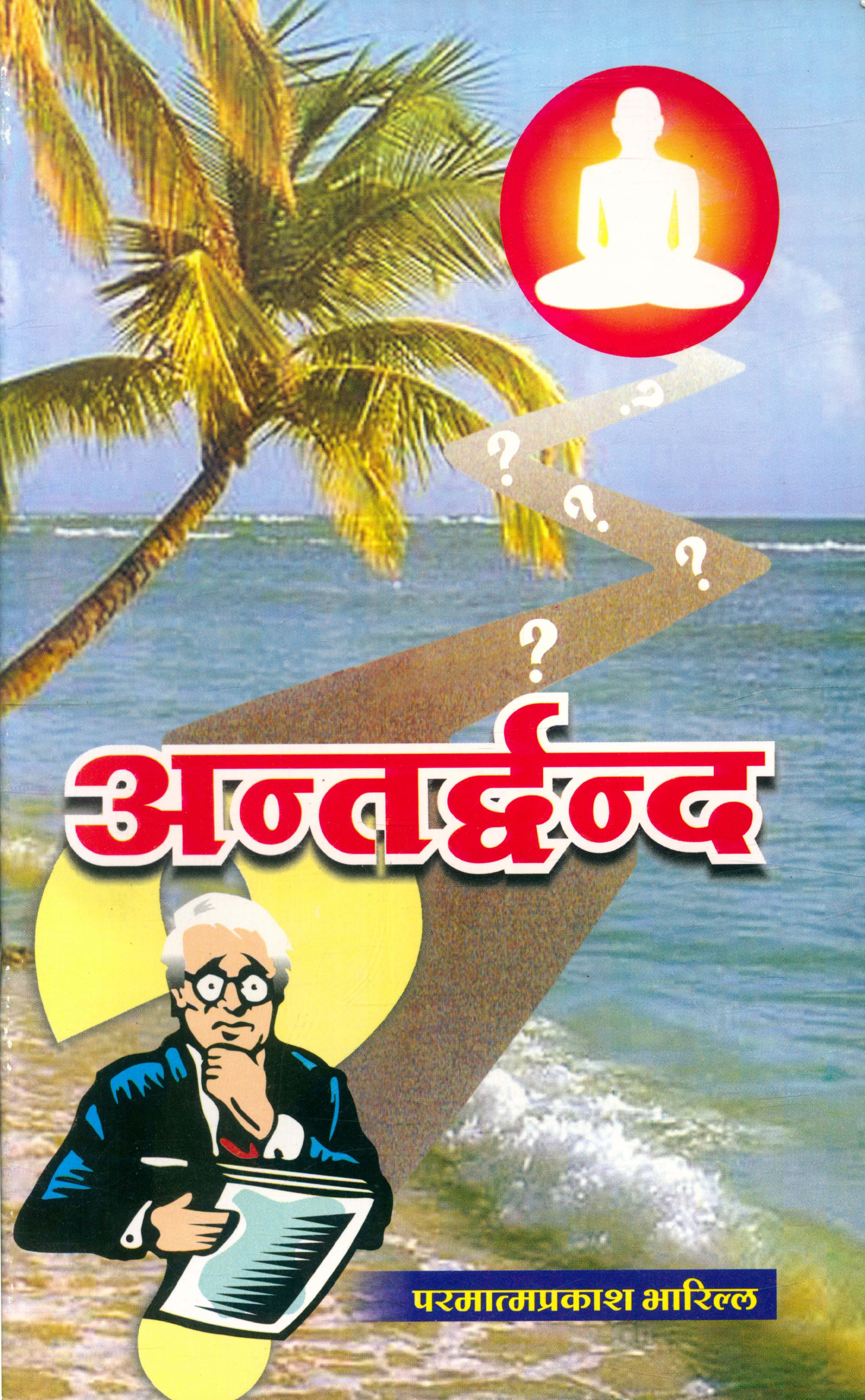
अन्तर्द्वन्द
परमात्मप्रकाश भारिल्ल

प्रथम संस्करण (1 मई 2004)	:	5 हजार
द्वितीय संस्करण (18 सितम्बर, 2004) दशलक्षण महापर्व के अवसर	:	3 हजार
तृतीय संस्करण (16 अप्रैल, 2011) महावीर जयन्ती	:	3 हजार
कुल योग	:	**11 हजार**

मूल्य : **छह रुपये**

प्राप्ति स्थान :
श्री टोडरमल स्मारक भवन
ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

मुद्रक :
सन् एन सन् प्रेस
तिलक नगर, जयपुर

अन्तर्द्वन्द

(लक्ष्यहीन जीवन की विसंगतियों को रेखांकित
करते हुए सार्थक जीवन जीने की कला
प्रस्तुत करता हुआ सशक्त चिन्तन)

लेखक :
परमात्मप्रकाश भारिल्ल

प्रकाशक :
डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल चैरिटेबल ट्रस्ट
३०४, सनफ्लैश, रिषि काम्प्लैक्स, होलीक्रास रोड
आई. सी. कॉलोनी, वोरीवली (वैस्ट) मुम्बई-४००१०३

प्रकाशकीय

प्रस्तुत 'अन्तर्द्वन्द' कृति के माध्यम से लेखक ने एक पचहत्तर वर्षीय वृद्ध व्यक्ति के मन-मस्तिष्क में होते स्वाभाविक अन्तर्द्वन्द का सशक्त चित्रण किया है।

कथानक की 'चिन्तनधारायें एक ही व्यक्ति के विविध विचारों के आधार पर अनेक रूपों में सहज प्रवाहित हुईं हैं। एक पात्रीय प्रस्तुत कथानक का नायक साठोत्तर अवस्था में स्वाध्याय करता प्रतीत होता है; क्योंकि उससे अपने यौवनावस्था में जो आपराधिक काम हुए हैं, उनका उसे पश्चाताप है। खान-पान में आचार-विचार में अपने हिताहित के प्रति अब सजग प्रतीत होता है।

जब वह 75 वर्षीय बृद्ध पुत्रों के सहयोग देने की भावना से दुकान जाता है, घर में नाती-पोतों को संस्कार देना चाहता है तो जनरेशन गेप (पीढ़ियों के अन्तर) के कारण वह उसमें भी सफल नहीं होता और परिवार से उपेक्षा का अनुभव करता है। वह सोचता है कि मैंने जिनके लिए ये सब पाप किए हैं; वे ही अब मुझे सठयाना समझते हैं। मात्र बड़े होने से सम्मान और सुविधायें जुटाकर श्रवणकुमार बनना चाहते हैं।

जिस शारीरिक स्वास्थ्य के लिए मैंने भक्ष्याभक्ष्य का विवेक नहीं रखा; अब वह भी जवाब देने लगा है; परन्तु ....। 'अब पछताये क्या होत है, जब चिड़िया चुग गई खेत'। जब उसे अपने पूर्वकृत आर्त-रौद्रध्यान, स्वार्थी भावना और अनैतिक कार्यों का ध्यान आता है तो उसके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। ऐसी परिस्थिति वाले लोगों के लिए लेखक ने यह संकेत दिए हैं कि भूत को भूलो और वर्तमान को संभालो, भविष्य स्वतः संभल जायेगा, निराश होने की आवश्यकता नहीं। जिसतरह घास को जलाने के लिए एक चिन्गारी काफी है, उसीप्रकार पूर्व पापपुंज को भस्म करने के लिए सम्यग्ज्ञान की एक चिन्गारी पर्याप्त है।

यह एक व्यक्ति की बात नहीं; अपितु सभी साठोत्तरों की समस्यायें हैं। इस कृति द्वारा लेखक ने बहुत ही सरल सुबोध शैली में दिशाबोध देने का सफल प्रयास किया है, एतदर्थ लेखक निश्चय ही प्रशंसा का पात्र है।

प्रस्तुत कृति को प्रकाशित करके हमारा ट्रस्ट गौरवान्वित है। ट्रस्ट का संक्षिप्त परिचय कवर पृष्ठ 3 पर है।

पुस्तक के आकर्षक कवर एवं मुद्रण व्यवस्था में अखिल बंसल, जयपुर के अथक परिश्रम और सूझ-बूझ के लिए धन्यवादार्ह हैं; एतदर्थ ट्रस्ट उनका आभारी है।

– पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

अपनी बात

बीते हुए जीवन के अनेकानेक पहलुओं को जान लेने, देख लेने व जी लेने के बाद; आज ये विचार मुझे अक्सर परेशान किए रहते हैं कि काश! जीवन की इन सच्चाइयों को मैं पहले ही जान सका होता तो मैंने अपना बीता जीवन इसतरह नहीं जिया होता, मेरी जीवन प्रणाली कुछ और ही होती।

कभी-कभी सोचता हूँ कि – काश ! जीवन दो बार जीने को मिलता; एक बार सीखने के लिए, अनुभव लेने के लिए, ट्रायल करने के लिए व फिर दूसरी बार पूरी तरह जीने के लिए; पर यह तो कल्पनालोक की उड़ान है, यथार्थ जीवन में तो यह सम्भव नहीं है।

जो हो चुका है, उसमें तो परिवर्तन सम्भव नहीं है; पर अब क्यों न बाकी बचे भावी जीवन के बारे में यह प्रयोग किया जावे ? औरों के जीवन को पढ़कर, उसे आत्मसात कर, विभिन्न अवस्थाओं व परिस्थितियों को, उनके अहसासों को कल्पना के धरातल पर ही स्वयं जीकर, क्यों न अपनी परिस्थितियों के अनुकूल, अपनी रुचि के अनुकूल, अपनी आवश्यकता के अनुकूल, अपनी भावी जीवन शैली की योजना तैयार की जावे; ताकि फिर कभी यह सदमा न भोगना पड़े कि – काश ! पहले मालूम होता, मैं पहले ही यह सच्चाई समझ पाया होता !

अपनी इस योजना के अनुरूप जब मैंने निष्कर्ष निकालने के लिए चिन्तन के स्तर पर जीवन का विश्लेषण प्रारम्भ किया तो कुछ ही दिनों में बुरी तरह भ्रमित (कन्फ्यूज़्ड) हो गया; क्योंकि अनेकों अहसास व अनेकों विकल्प (Alternatives) आपस में ही टकराने लगे और चिन्तन व्यवस्थित नहीं हो पाया। तब मैंने अपने चिन्तन को व्यवस्थित बनाये रखने के लिए लेखनी का सहारा लेने का निश्चय कर लिया।

इसतरह इस लेखन का प्रारम्भ आप सभी के लिए व किसी अन्य के लिए नहीं, वरन् स्वान्तःसुखाय ही हो गया था; पर आज आप सभी के समक्ष यह स्वीकार करने में मुझे कोई हिचक नहीं है कि जब मैं लिखने बैठा तो अपने नग्न अहसासों व चिन्तन के प्रति ईमानदार न रह सका; क्योंकि मैं अच्छी तरह जानता

हूँ कि लिखित विषयवस्तु अनन्तकाल तक मात्र व्यक्तिगत सम्पत्ति बनकर नहीं रह सकती, एक न एक दिन तो वह सार्वजनिक हो ही जावेगी और तब मैं मात्र वही लिख पाया जिन मनोभावों के प्रकट हो जाने में मुझे कोई संकोच न था।

इसी के साथ मेरे अन्दर प्रसुप्त साहित्यिकता के कीटाणु सक्रिय हो गये और इसतरह मेरा चिन्तन एक कृति का रूप लेने लगा।

जब मात्र स्वयं के लिए, सिर्फ सोचता ही था, तब चिन्तन आधा-अधूरा बना रहता था, न जाने विचारों की शृंखला चिन्तन के किस बिन्दु से प्रारम्भ होती व कहाँ टूट जाती, उसका न कोई ओर था न छोर; पर जब लिखना प्रारम्भ किया तो आवश्यकता महसूस हुई कि चिन्तन व्यवस्थित व सम्पूर्ण होना आवश्यक है।

उधर दूसरी ओर एक समानान्तर चिन्तन मेरे मस्तिष्क में चला करता था कि सामान्य श्रावक से साधकदशा का विकास एक प्राकृतिक व स्वाभाविक प्रक्रिया है, जो अन्तरंग वृत्तियों व परिणामों की विशुद्धि के समानान्तर बाह्य जीवन में भी स्वयमेव ही आकार ले लेता है, ऊपर से कुछ भी ओढ़ने की आवश्यकता नहीं होती, ऊपर से ओढ़ा हुआ आचरण तो बाह्य परिधान (वस्त्रादि) की भांति बोझिल ही होता है।

इस स्वाभाविक विकास को रेखांकित करते हुए एक चरित्र की रचना करना मेरी चिरसंचित अभिलाषा थी ही, सो मैंने अपने इन दोनों विचारों को एकमेक करके प्रस्तुत करने का निश्चय किया व 'समकित' शीर्षक से एक कथानक की रचना प्रारम्भ कर दी।

उक्त रचना कुछ समय तक क्रमिक रूप से 'जैनपथप्रदर्शक' पाक्षिक में प्रकाशित भी होती रही, पर उस कथानक के विकास से मैं स्वयं संतुष्ट नहीं था; अत: उसे बीच में ही रोक देना पड़ा। उसी रचना को पुन: नये रूप में कुछ परिवर्तन-परिवर्धन के साथ लिखना प्रारम्भ किया। अभी, 30-40 पेज ही लिख पाया था कि प्रसंगवश दादा का बम्बई आगमन हुआ और मैंने यह रचना पढ़कर उन्हें सुनाई। अबतक ऐसे अवसरों पर प्रतिक्रिया विहीन चुप्पी साधे रहनेवाले दादा (मेरे पूज्य पिताश्री डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल) इस बार यूँ तो चुप ही रहे; पर मेरी डायरी के प्रथम पृष्ठ पर निम्नांकित संस्कृत श्लोक अर्थ सहित लिख दिया–

प्रारम्भते न खलु विघ्नभयेण नीचैः।
प्रारम्भ विघ्नविहिता विरमन्ति मध्या॥
विघ्नैः पुर्नपुनरपि प्रतिहन्यमाना।
प्रारम्भमुत्तमजनाः न परित्यन्ति॥

निम्न श्रेणी के लोग विघ्नों के भय से महान कार्य आरम्भ ही नहीं करते और मध्यम श्रेणी के लोग महान कार्य आरम्भ तो कर देते हैं, किन्तु विघ्नों के आने पर उन्हें बीच में ही छोड़ देते हैं; परन्तु उत्तम श्रेणी के लोग महान कार्य न केवल आरम्भ करते हैं, अपितु बार-बार विघ्नों के आने पर भी, उन्हें छोड़ते नहीं हैं। उन्हें पूर्ण करके ही मानते हैं। —हस्ताक्षर 2.5.2000

यद्यपि दादा ने मुख से तो कुछ कहा नहीं था, पर यह लिखकर क्या-क्या नहीं कह दिया था ? इसे मैंने आशीर्वाद, प्रेरणा व आदेश के रूप में स्वीकार किया।

कुछ चिन्तन का आधा-अधूरापन कहें व कुछ व्यावसायिक व्यस्तता, यह लेखन कार्य कुछ काल तो चला, पर बहुत आगे बढ़ न सका; तब मेरे मन में विचार आया कि क्यों न इस रचना के कथ्य को, मूल विषयवस्तु को अत्यन्त संक्षेप में, एक रूपरेखा के रूप में ही प्रकाशित करके पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर दिया जावे, शायद उनकी प्रतिक्रियायें, सुझाव, प्रेरणा व आग्रह शेष कार्य स्वयं ही मुझसे करा लेवें।

इसे त्रुटिहीन व परिपूर्ण बनाने का विकल्प कहीं इस कार्य को एक बार पुनः लम्बित न कर दे, इस भय से अपने स्वभाव के सर्वथा विपरीत जल्दबाजी में यह कृति अपने इस वर्तमान रूप में "जहाँ है, जैसा है" (As it is, where it is) के आधार पर आपके समक्ष प्रस्तुत है।

अपने इस जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण कैसा होना चाहिए, उक्त विषय में मात्र कुछ ही पहलुओं पर कुछ सूत्रात्मक, संक्षिप्त विचार इस पुस्तिका में प्रस्तुत किए गए हैं।

उक्त विचारों को मात्र पढ़ लेना व जान लेना पर्याप्त नहीं है। आवश्यकता है इन पर हर दृष्टिकोण से दूरगामी विचार करके इन्हें अपने जीवन में अपनाने की, अपने जीवन को उक्त विचारों के अनुरूप ढ़ालने की; अपने जीवन का शिल्पी स्वयं बनने की।

हमारा जीवन मात्र एक अनगढ़े पत्थर की तरह वेडोल न रह जावे, बल्कि एक आदर्श शिल्प बन सके – इसके लिए आवश्यकता है एक अत्यन्त ही कुशल शिल्पी की और अपने स्वयं के लिए वह 'शिल्पी' कोई अन्य नहीं हो सकता; **क्योंकि शिल्प में जो कुछ भी अभिव्यक्त होता है, वह शिल्पी का अपना दृष्टिकोण होता है, उसकी अपनी परिकल्पना होती है।** हमें अपने आपको जिस रूप में ढालना है, वह किसी अन्य की परिकल्पना नहीं, वरन् हमारा अपना स्वप्न है, हमारा अपना स्वप्न होना चाहिए और इसलिए हमें अपना शिल्पी स्वयं ही बनना होगा।

यदि अपने आपको गढ़ने के लिए हम किसी अन्य पर निर्भर रहें तो उसका परिणाम क्या आ सकता है ? इसकी कल्पना इस तथ्य से भलीभाँति की जा सकती है कि इस पृथ्वी पर अनन्त पत्थर विद्यमान हैं, वे आज तक अनगढ़े ही पड़े हैं। यदि उनमें से एक अत्यन्त नगण्य-सा भाग किसी ने गढ़ भी दिया है तो उनका क्या रूप बन पड़ा है, वह हमारे आपके सामने है।

क्या वह सब हमारी आशा-आकांक्षा के अनुरूप है ? क्या हम उन सभी को पसन्द कर पाते हैं ? क्या हमें उन सभी में कुछ न कुछ कमियाँ दिखाई नहीं देतीं ? **यदि हम किसी अन्य के द्वारा निर्मित किसी भी कृति को पसन्द नहीं करते तो फिर भला हम अपने आपको गढ़े जाने के लिए किसके हवाले कर दें ? इसलिए यदि हम अपने जीवन को अपनी स्वयं की परिकल्पना के अनुरूप एक आदर्श शिल्प बनाना चाहते हैं तो हमें अपना शिल्पी स्वयं ही बनना होगा।**

जिसप्रकार एक शिल्प के निर्माण के लिए, एक मूर्ति के निर्माण के लिए किसी आदर्श प्रतिकृति का सरसरी तौर पर मात्र अवलोकन (देखना) पर्याप्त नहीं है; उसका सूक्ष्म निरीक्षण करना होता है। प्रत्येक अंग-उपांग की संरचना व आकार-प्रकार के बारे में सूक्ष्मतम जानकारी प्राप्त करनी होती है, उनकी माप-जोख करनी होती है; फिर पत्थर को गढ़ने का गहरा अभ्यास करना होता है। इन सब विधियों में पारंगत होने के बाद सब कुछ छोड़कर जुट जाना होता है, अपने कार्य में अहिर्निश (दिन-रात); तब कार्य सफल होता है।

उसीप्रकार यदि हम अपने इस जीवन को मात्र एक अनगढ़ पत्थर नहीं बने रहने देना चाहते, उसे अपनी आशा-आकांक्षा व आदर्शों के अनुरूप ढालना

चाहते हैं तो हमें अपने उन आदर्शों को मात्र सरसरी तौर पर पढ़ लेना और पढ़कर छोड़ देना पर्याप्त नहीं है, हमें उन पर गहराई से विचार करना होगा, अपने चिन्तन को विस्तार देकर जीवन के हर पहलू पर, हर परिस्थिति पर घटित करना होगा और उपयुक्त पाये जाने पर उसे क्रियान्वित करने की कार्ययोजना तैयार करनी होगी और अन्ततः जुट जाना होगा, उसे साकार करने में, बिना थके, दिन-रात। जिसप्रकार वाहन निर्माता, जब किसी नए मॉडल का विकास करते हैं, तो वे उसे हर सम्भावित परिस्थिति में कार्यक्षम बनाने के लिए, कृत्रिम रूप से सभी परिस्थितियों का निर्माण करके, वाहन का परीक्षण करते हैं व उपयुक्त पाये जाने पर वाहन का निर्माण करते हैं।

अपने विचारों के अनुरूप अपने जीवन को ढालना कोई एक दिन का कार्य नहीं है, वरन् यह एक सतत् प्रक्रिया है। जीवन को आकार देना तो बात ही और है, पर विचारों को भी आकार देना साधारण काम नहीं है। जिसप्रकार आधारहीन, भारहीन तिनके हवा से विचलित हो जाते हैं, बिखर जाते हैं; उसीप्रकार हमारे विचारों का प्रवाह भी, नित्यक्रम के अत्यन्त सामान्य से घटनाक्रमों से छिन्न-भिन्न हो जाता है। इसप्रकार तिनकों से बने घोंसले के समान हमारे विचार जीवन भर बदलते रहते हैं; 'विचारधारा' का आकार ग्रहण नहीं कर पाते।

जब विचार ही आकार नहीं ले पायेंगे तो जीवन कैसे आकार लेगा। बिखरे-बिखरे, कमजोर विचार एक सुव्यवस्थित विचारधारा का रूप धारण कर सकें, इसके लिए आवश्यक है – निरन्तर चिन्तन, व्यवस्थित चिन्तन, प्रतिदिन, प्रतिपल। और हम हैं कि सोचने की हमें आदत ही नहीं। हमारे अपने न कोई विचार हैं और न कोई व्यवस्थित विचारधारा।

इसे विडंबना नहीं तो क्या कहें कि मात्र विचार करने की प्रबल क्षमता और अत्यन्त विकसित विचाराधाराओं का संग्रह ही मानव को अन्य प्राणियों से पृथक् करता है; प्राणिसमूह में विशिष्ट स्थान प्रदान करता है। आहार, निद्रा, भय व मैथुन जैसी अन्य वृत्तियाँ तो कमोवेश सभी प्राणियों में समानरूप से पाई ही जाती हैं; ऐसे में यदि मानव विचार करना ही छोड़ दे, विचारहीन हो जावे, उसकी कोई विचारधारा ही न रहे तो फिर वह पशुओं की अपेक्षा किसप्रकार विशिष्ट रह सकेगा।

मानव के रूप में जन्म ले लेना मात्र पर्याप्त नहीं है, हमें मानव बनना होगा।

मानव देह पा लेने में, प्रत्यक्ष तौर पर हमारा अपना कोई पुरुषार्थ नहीं है, कोई योगदान नहीं है; पर मानव बनने का पुरुषार्थ हमें स्वयं ही करना होगा।

मुझे आशा है कि प्रस्तुत पुस्तिका में प्रस्तुत किए गए सूत्रात्मक विचारों को विस्तार देकर, उन्हें अपनी वर्तमान परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में आकार देकर प्रबुद्ध पाठक अपने जीवन में ढालने का कार्य स्वयं ही कर लेंगे; तथापि मैं जानता हूँ कि यह सबकुछ इतना आसान भी नहीं है। अल्पकथन का विस्तार कर लेना व उसमें से अकथ्य की भी कल्पना करके एक सम्पूर्ण विचार का सृजन कर लेना मात्र तभी सम्भव है, जब विचारों का यह सम्प्रेषण, आदान-प्रदान समानान्तर विचारधाराओं व समकक्ष मानसिकताओं वाले दो व्यक्तियो के बीच हो रहा हो।

यदि नितान्त अपरिचित या विभिन्न मानसिकताओं वाले व्यक्तियों तक अपने विचार पहुँचाने हों तो, विस्तार पूर्वक, सरल भाषा में, प्रतिदिन के जीवन की घटनाओं के माध्यम से, सुरुचिपूर्ण ढंग से अपनी बात प्रस्तुत करने की आवश्यकता है।

उक्त तथ्य को ध्यान में रखते हुए अपने इन्हीं विचारों की व्याख्या करते हुए प्रसंगों के माध्यम से, विभिन्न चरित्रों का सहारा लेते हुए, एक उपन्यास शीघ्र ही मैं आपके समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास करूँगा।

प्रसंगवश अपना मनोगत आपके समक्ष व्यक्त कर देने का लोभ मैं संवरण नहीं कर पा रहा हूँ।

मैंने पाया कि मोक्षाभिलाषियों के परम सौभाग्य से जिनागम में द्रव्यानुयोग से संबंधित आध्यात्मिक ग्रन्थों की टीकाओं की एक समृद्ध व निर्बाध परम्परा आज तक चली आ रही है व आगम तथा अध्यात्म की जटिलतम चर्चाएँ, आज की सरलतम भाषा व सुबोधतम शैली में उपलब्ध हैं, पर प्रथमानुयोग के बारे में ऐसा नहीं है।

प्रथमानुयोग का उद्देश्य होता है – विस्तार रुचिवाले, अपेक्षाकृत कम क्षयोपशमवाले मनुष्यों के लिए सरल भाषा में कथानकों व महापुरुषों के जीवन चरित्र के माध्यम से, संसार व मोक्ष के स्वरूप का दिग्दर्शन करके, संसार मार्ग से निकालकर मोक्ष में लाने का प्रयास करना।

उक्त उद्देश्य की पूर्ति हेतु जिन प्रथमानुयोग ग्रंथों की रचना हुई, वे सब तत्कालीन पाठकों के लिए अवश्य ही अत्यन्त सरल व मनोरंजक रहे होंगे; पर

उनकी भाषा व कथन शैली आज के पाठकों के लिए अत्यन्त दुरूह बन चली है; परन्तु मनीषियों का ध्यान इस ओर गया ही नहीं कि सरलतम समझा व कहा जानेवाला प्रथमानुयोग अब जनसामान्य की पहुँच से परे हो चला है व अब एक बार फिर इसे सरलतम बनाने की आवश्यकता उत्पन्न हो गई है। प्रथमानुयोग के ग्रन्थों में कथाक्रम के बीच-बीच में सूत्रात्मक रूप में पिरो दिए गये सिद्धान्त-रत्नों की विस्तार पूर्वक सरल व्याख्या आज युग की आवश्यकता बन चली है।

आज जब आत्मकल्याण के अभिलाषी साधर्मी भाइयों को सदा ही अध्यात्म की सूक्ष्म चर्चाओं, स्वाध्याय व चिन्तन-मनन में रत पाता हूँ तो उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धा, सम्मान, वात्सल्य के भाव हृदय में हिलोरें लेने लगते हैं व उनके प्रति अत्यन्त ही विनम्रता पूर्वक एक बात उनसे कहने को मन हो जाता है कि –

अध्यात्म वह विज्ञान है, वह वीतराग-विज्ञान है; जो भेदविज्ञान कराता है स्व व पर का, बंध व मोक्ष का, जीव और अजीव का तथा प्रथमानुयोग व चरणानुयोग वह कला है, जो संसारी प्राणी को काजल की कालिख से बचाते हुए, संसाररूपी काजल की कोठरी से बेदाग निकालकर धवल मोक्षमार्ग में स्थापित कर देती है।

प्रथमानुयोग में वर्णित शलाका पुरुषों के जीवन चरित्र के माध्यम से संसार के स्वरूप को जानकर, संसार की असारता को पहिचानकर, भक्ति की सार्थकता का अनुभव कर, बारह भावनाओं के चिन्तनपूर्वक अपने आपको संसार से निकालकर मोक्ष में स्थापित कर लेने की उत्कट भावना की उर्वराभूमि में अध्यात्म का बीजारोप मोक्षफल पाने का उपाय है।

संसार की निस्सारता का स्पष्ट व निःशंक निर्णय हुए बिना तथा मुक्ति के सम्पूर्ण/अखण्ड आनन्द के स्वरूप का निःशंक निर्णय हुए बिना संसार से छूटने व मोक्ष पाने का पुरुषार्थ संभव ही नहीं है।

संसार की समस्त परिस्थितियों व अनुभूतियों को एक ही भव में जिया ही नहीं जा सकता है और इसीलिए भुक्त दशाओं की निस्सारता के अहसास के बावजूद अभुक्त काल्पनिक परिस्थितियों में सुख की सुखद परिकल्पना इस जीव को संसार में सुख की मृग-मरीचिका जैसी अनुभूति से विमुख ही नहीं होने देती। तब कोई कैसे संसार से विमुख हो सकता है।

उक्त परिस्थितियों में प्रथमानुयोग में वर्णित, निगोद से लेकर मोक्ष तक की, रंक से लेकर चक्रवर्ती तक की, कुरूप से लेकर कामदेव की स्थितियों में जीव की दशा व अहसासों को पढ़कर, जानकर व विचारों में जीकर संसार की निस्सारता व मोक्ष की सार्थकता का निर्णय अल्पकाल में ही किया जा सकता है और तब उक्त पृष्ठभूमि में अध्यात्म का विज्ञान कार्यकारी हो जाता है।

यदि सूत्रात्मक रूप से कहा जाये तो –

''प्रथमानुयोग का कथ्य संसार की निस्सारता का सार है।''

इस तथ्य को जानने व इसकी अहमियत को पहिचानने के बाद प्रथमानुयोग के ग्रन्थों की टीका व सरल, सुबोध एवं रुचिकर व्याख्या करना मेरी चिर संचित अभिलाषा है। आशा है इस अभिलाषा की पूर्ति शीघ्र ही होगी।

जब मैं प्रस्तुत कृति को एक विस्तृत उपन्यास का रूप देने की दिशा में अग्रसर था, तब मेरी योजना थी कि समाज के विभिन्न आयुवर्ग, आय व बौद्धिकस्तर वर्ग को ध्यान में रखकर उनके जीवन में आनेवाली जटिल परिस्थितियों को प्रस्तुत कर उनका समाधान प्रस्तुत किया जावे व उन परिस्थितियों से उबरकर, किसप्रकार आत्मकल्याण के मार्ग पर लगा जा सकता है, वह मार्ग प्रस्तुत किया जा सके; परन्तु यह कोई आसान कार्य नहीं है व अनुभव की कमी के कारण मात्र विचारों के धरातल पर विभिन्न परिस्थितियों का सृजन करना मेरे लिए सम्भव नहीं हो सका; तथापि मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि हम किसी भी परिस्थिति से क्यों न गुजर रहे हों, कितनी ही विषमताओं का सामना क्यों न कर रहे हों; उनसे उबरने का उपाय विद्यमान अवश्य है, योग्य चिन्तन के जरिये वह उपाय आसानी से खोजा भी जा सकता है।

मेरे इस कार्य में पाठक मेरे सहयोगी भी बन सकते हैं, यदि वे ऐसी विभिन्न परिस्थितियों का शब्दचित्र मेरे समक्ष उपस्थित करें तो मैं महसूस करता हूँ कि मैं उनका समाधान, उन परिस्थितियों से उबरने का उपाय प्रस्तुत कर सकूँगा।

प्रस्तुत विषयवस्तु के सन्दर्भ में सुधी व प्रबुद्ध पाठकों की प्रतिक्रियायें व रचनात्मक सुझावों का हमेशा स्वागत है।

– **परमात्मप्रकाश भारिल्ल**

अन्तर्द्वन्द

आज मैं 75 साल का हो गया हूँ। हालांकि सरकार तो 55-60 में ही मान लेती है कि जीवन पूरा हो गया, पर तब तो मुझे लगता था कि –

"अभी कहाँ ? अभी तो शुरूआत ही है, अभी तो मेरे लगाये हुए वृक्षों पर फल आने शुरू हुए हैं। जीवन तो मैं अब जिऊँगा; भरपूर !"

और तब मैं जिजीविषा से भर उठा था।

मेरी दृष्टि में सबसे ज्यादा महत्त्व फलते-फूलते व्यापार का था, जिसके कारण ही आज यह जीवन की सांझ खुशगवार बनी थी और मैंने सोचा था कि धम-धोकार चल रहे व्यापार की इस व्यस्तता में बच्चे सब तरफ अच्छी तरह ध्यान नहीं दे पाते हैं व बहुत से महत्त्वपूर्ण पक्ष अनदेखे ही रह जाते हैं। क्यों न मैं उनकी तरफ ही कुछ ध्यान दूँ। और मैंने कार्यालय जाना प्रारम्भ कर दिया।

कुछ दिन तो सभी को बड़ा अच्छा लगा, बच्चों ने भी सोचा कि इसमें हर्ज ही क्या है ? उनका मन भी लगा रहेगा व थोड़ी-बहुत देखरेख भी बनी रहेगी। परन्तु मैं निरा ज्ञाता-दृष्टा बने रहने के लिए तो वहाँ गया नहीं था, और ज्यों ही मैंने कर्ता-धर्ता बनने की कोशिश की तो मेरी यह घृष्टता कर्ता-धर्ताओं को अखरने लगी और एक दिन बड़े बेटे ने बड़ी ही विनय के साथ मुझसे निवेदन किया कि –

"पिताजी आपने जीवन में क्या कुछ नहीं किया है ? आज जो कुछ भी है सो सब आपका ही किया हुआ तो है ? अब भी यदि हम लोगों के रहते हुए आपको ऑफिस आने की जरूरत पड़े तो फिर भला-----? नहीं! बस अब आप तो गौरव के साथ, आनन्दपूर्ण जीवन जियें और आपकी जो भी इच्छा और आवश्यकता हो, बेहिचक आदेश करें। आपके हर आदेश का पालन होगा।"

और इसप्रकार मैं ससम्मान घर बिठा दिया गया।

इस परिस्थिति से मैं हर्षित तो हो ही नहीं सकता था और विलाप करने की स्थिति थी नहीं। कुछ दिनों के ऊहापोह के बाद मैंने घर पर ही अपने लिये अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारी खोज ली। मैंने महसूस किया कि लड़के व्यापार में व्यस्त हैं व बहुएँ घरबार में, पर बच्चों की ओर ध्यान देने के लिए, उनमें उच्च संस्कारों के सिंचन के लिए किसी के पास अवकाश नहीं है, क्यों न यह कार्य मैं सम्भाल लूँ; पर यह भी इतना आसान कहाँ था ?

जब मैंने इस काम में हाथ डाला, तभी जान पाया कि समस्या मात्र यह नहीं कि बेटे-बहुओं के पास इन्हें सिखाने के लिए समय नहीं है, वरन् इन बच्चों के पास ही कौन-सा समय है, जब ये अपने माता-पिता या दादा-दादी के पास बैठ-बतिया सकें। एक तो स्कूल व उसके बाद विभिन्न विषयों की ट्यूशनों का एक निरन्तर सिलसिला ? वे कब खेलें व कब खायें, यही एक बड़ी समस्या थी। मैं इन्तजार ही करता रहता कि वे कब आयें और मैं उन पर अपने सद्विचारों का कलश ढोल दूँ, पर यह क्या ? वे तो एक ओर से आते और दूसरी ओर चले जाते। उनके पास तो जलपान के लिए ही अवकाश न था फिर भला वे मेरे पास कब बैठते व मेरी क्या सुनते; पर मुझे तो अपनी सुनानी ही थी, अन्यथा मुझे अजीर्ण होने लगता। जहाँ चाह-वहाँ राह मैंने भी अवसर ढूंढ ही लिया। मैंने फैसला किया कि वे जब भोजन-नाश्ता कर रहे हों तभी मैं अपने उद्गार भी परोस दूँ, 'एक पंथ दो काज'।

हालांकि थोड़ी दिक्कत तो होनी ही थी; क्योंकि बच्चे मेरी बातों में गाफिल हो जाते तो वे न तो खाने-पीने में ध्यान दे पाते थे और न ही अपनी मम्मी की बातों पर ध्यान देते थे। फिर भी मेरा यह आइडिया काम कर ही गया; पर अमूमन होता यह कि जबतक उनका नाश्ता चलता, तब तक तो सब ठीक-ठाक चलता; पर नाश्ता खत्म होते ही उन्हें एक भी मिनिट का धैर्य नहीं रहता और तब वे किस्सा पूरा होने की तो बात ही

क्या, वाक्य भी पूरा होने का इन्तजार न करते व भाग खड़े होते, अपनी अगली ट्यूशन के लिए; क्योंकि वे अबतक पहले ही लेट हो चुके होते थे।

बच्चे तो दौड़ जाते थे, पर मैं क्या करता ? यदि कोई और वहाँ न होता तो शायद मैं मन मसोस कर चुप भी रह जाता; ठीक उस बालक की तरह, जो गिर पड़ता है तो उठकर चारों ओर देखता है कि किसी ने देखा तो नहीं और आश्वस्त होने पर चुपचाप धूल झाड़कर चल देता है, मानो कुछ हुआ ही नहीं।

मैं तो इतना सौभाग्यशाली भी नहीं था; क्योंकि मेरी इस दशा का साक्षी बनने के लिए मेरी पत्नी व बहुएँ तो वहाँ मौजूद थीं ही और नौकर-चाकर भी। तब मैं झेंप मिटाने के प्रयास में अपनी पत्नी की ओर मुखातिब होकर बोलना प्रारम्भ ही करता कि 'फिर मालूम है क्या हुआ विमला !' और वह बोल पड़ती "हाँ ! हाँ !! सब पता है, मैं कोई पहली बार सुन रही हूँ क्या?"

और इसप्रकार अनेकों महत्त्वपूर्ण कार्यों में अपनी सार्थक भूमिका तलाशने के हर प्रयास में पूरी तरह असफल रहने के बाद आज मैं स्वयं भी इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए बाध्य हूँ कि **मेरा यह जीवन सम्पूर्ण रहा हो या न रहा हो, पर सम्पूर्ण जीवन बीत अवश्य गया है; जीवन बीत गया है और जीवन घट रीत गया है।** अबतक तो जीवन का अर्थ भी न समझ सका और जीवन अर्थहीन हो गया।

मेरे पास अब करने के लिए कुछ भी शेष नहीं, सिवाय दिन गिनने के। अब हर सुबह मुझे सिर्फ एक ही इन्तजार रहता है सांझ होने का, कि कब भोर होने के साथ ही घोंसला छोड़कर उड़ गए पंछी एक बार फिर घर पर लौटें, एक बार फिर आंगन जगमग हो, यौवन का सौरभ महके व शैशव का कलरव चहके। यानि कि सारे परिवारजन दीवान खाने में एकत्र हो एक-दूसरे के साथ अपनी खुशियाँ बांटे, खेलें-खायें, बैठें-बतियायें।

लम्बे-लम्बे इंतजार के बाद कुछ क्षणों के लिए वह पल आते भी हैं

व इससे पहले कि मैं अवसाद की स्थिति से उबरकर उसमें सराबोर हो सकूँ कि एक बार फिर पतझड़ आ जाती है, दीवानखाने की महफिल बिखर जाती है। जीवन की रोशनी दीवानखाने से चलकर, शयनकक्ष के रास्ते अन्धकार में विलीन हो जाती है और मैं एक बार फिर करवटें बदलते हुए, रात काटता हुआ भोर का इन्तजार करने लगता हूँ, कोई नई व अनुपम नहीं, वरन् अनगिनत अन्य सुबहों जैसी ही एक और सुबह का, जब एक बार फिर, कुछ ही पलों के लिए ही सही, दीवानखाने में रोशनी आवेगी, कलरव बिखरेगा और फिर सबकुछ बिखर जावेगा कुछ ही पलों में एक और लम्बे से दिन भर के लिए, एक और शाम तक के लिए। ऐसी ही अन्य और अनगिनत सांझों की ही तरह, एक और शाम तक के लिए।

सभी कहते हैं कि मैंने जीवन सम्पूर्ण जिया है; सम्पूर्ण जीवन ही नहीं, जीवन सम्पूर्णपने जिया है, सबकुछ ही तो भरा-पूरा है, भरा-पूरा घर परिवार, धम-धोकार चलता कारोबार, सत्ता व अधिकार, सब ओर से प्रेम व सम्मान भरा व्यवहार, स्वास्थ्य व परिवार की अनुकूलता, आखिर और क्या चाहिए ? पर मुझे तो इस सम्पूर्णता में भी रिक्तता ही नजर आती है। रिक्तता ही रिक्तता। सब ओर ही तो रीतापन है, कहीं कुछ भी तो नहीं, जिसे जमापूंजी की तरह अगले जीवन में अपने साथ ले जाया जा सके। डेबिट-क्रेडिट सब यहीं तो बराबर हो गया, कुछ भी तो नहीं बचा कैपीटल अकाउंट में ट्रान्सफर करने के लिए, तब फिर किसतरह इस जीवन को सम्पूर्ण कहा जा सकता है, परिपूर्ण कहा जा सकता है ?

पर नहीं ! **मैं तो रीता भी कहाँ हूँ ? मैं तो बोझिल हूँ, अत्यन्त ही बोझिल; अनन्त अकृत्य-कृत्यों का बोझ तो लदा है मेरे ऊपर। कौन कहता है कुछ नहीं है कैपीटल अकाउंट में ट्रान्सफर करने के लिए ? कर्जा तो है। मैं निर्भार कहाँ हूँ ? रीता व्यक्ति तो निर्भार होता है, निर्भारता तो आदर्श अवस्था है, पर मैं निर्भार कहाँ हूँ ? मैं तो अत्यन्त बोझिल हूँ, अपने पापों से, अपने कर्मों से।**

कौन कहता है कि मेरे पास कुछ नहीं अपने साथ ले जाने के लिए ? हाँ ले जाने लायक कुछ नहीं, पर ले जाने के लिए तो है न ? जीवन भर किये गये पापों का बोझ।

अब पूर्वकृत दुष्कृत्यों का स्मरण व उनके सम्भावित परिणामों की दुश्चिन्ता मेरा पीछा नहीं छोड़ती है।

ज्यों-ज्यों मेरा ध्यान पिछले जीवन में घटित विभिन्न घटनाक्रमों पर जाता है, मेरा मन वितृष्णा से भर उठता है। हा ! यह मैंने क्या किया ? छोटे से क्षणिक स्वार्थों की सिद्धि के लिए मैंने उन अनन्त कर्मबन्धनों की कितनी बड़ी कीमत चुका डाली ? सिर्फ इसीलिए न कि प्रकट तौर से मुझे वह कीमत तुरन्त नहीं चुकानी थी, शायद तात्कालिक तौर पर तो मुझे कुछ मिलनेवाला ही था; पर क्या कोई भी समझदार व्यक्ति कोई अनुपयोगी या मँहगी वस्तु क्रेडिट कार्ड से सिर्फ इसलिए खरीद लेता है कि अभी कहाँ पैसे देने हैं; अभी तो चीज यूँ ही घर में आ रही है। अरे; कभी तो क्रेडिट कार्ड का भी पैसा चुकाना होगा, वह भी भारी ब्याज के साथ ! ईमानदार व समझदार व्यक्ति के लिए तो क्रेडिट कार्ड के खर्च में व नकद खर्च में कोई फर्क नहीं है और वह तो हर कार्य लाभ-हानि का विचार करके करता है, तब मैंने भला बिना-विचारे, वर्तमान के व्यर्थ से व्यवहारों के लिए गम्भीर कर्मबन्धनों का बोझ क्यों अपने सिर पर लाद लिया, क्या सिर्फ इसलिए कि आज मेरा कुछ नहीं बिगड़ता ?

अरे आज नहीं तो कल, भोगना तो मुझे ही है न ? अरे कल ही क्यों? आज भी तो उसका फल मैं ही भोगता हूँ अनन्त आकुलित होकर ! क्या मात्र किसी वस्तु या धन का आय-व्यय ही लाभ-हानि है, सुख-दुख है ? परिणामों में व्याकुलता दुःख नहीं ? अरे वस्तुतः तो मात्र व्याकुलता ही दुख है। पर-वस्तुओं का ग्रहण-त्याग तो पराधीन है, उसमें तो मेरा कुछ कर्तापना है ही नहीं।

आखिर क्या महत्त्व रखती थी वह बचपन में मित्रों के बीच खेल-

खेल में होनेवाली जीत-हार ? खेल का उद्देश्य तो मात्र मनोरंजन ही था न? पर मैं खेल में भी ईमानदार न रह सका। हारना तो मुझे मंजूर ही न था, किसी भी कीमत पर; ईमान की कीमत पर भी नहीं। धिक्कार है मेरी उस हीनवृत्ति को, जो अपने ही प्रिय मित्रों की विजय मुस्कान बर्दाश्त न कर सकती थी। क्या मैं उस समय दोहरा आनन्द नहीं ले सकता था ? एक ओर खेल का आनन्द व दूसरी ओर स्वयं की विजय से प्रसन्न मित्रों की प्रसन्नता का आनंद? पर मेरा अहंकार तो हमेशा ही उन्हें मात्र पराजित ही देखना चाहता था। क्या इसी का नाम मित्रता है ? तब फिर शत्रुता किसे कहते हैं? क्या मैं मित्र बनकर अपने ही मित्रों से शत्रुवत व्यवहार नहीं करता रहा ? क्या यह जघन्य अपराध नहीं था ? क्या यह महापाप नहीं था और यह महापाप करके मैंने पाया क्या ? प्रतिपल जीत का षडयंत्र रचने की आकुलता ही न ?

क्या अभक्ष्यों के भक्षण बिना मेरा यह जीवन नहीं चल सकता था? क्या कमी थी? एक से बढ़कर एक स्वादिष्ट व पौष्टिक पदार्थ उपलब्ध थे भोजन के लिए, पर मुझे तो वही चाहिए थी आलू की चाट। और वह भी अज्ञानवश नहीं, बल्कि यह जानते हुए भी कि इसमें अनन्त निगोदिया जीवों का घात निहित है?

आखिर क्या है भोजन की उपयोगिता और आवश्यकता ? किसे कहते हैं भोजन का आनन्द।

भोजन की आवश्यकता मात्र शरीर को स्वस्थ व कार्यक्षम बनाये रखने के लिए ही तो है; व इस उद्देश्य की पूर्ति तो सर्वप्रकार से दोषरहित भोजन से भी भलीभांति की जा सकती है और रही बात स्वाद की, तो ऐसा तो है नहीं कि मात्र अमुक वस्तु ही स्वादिष्ट होती है और अमुक नहीं। यह तो अपने ऊपर निर्भर करता है कि हम स्वयं अपने लिए कैसा स्वाद विकसित करते हैं। लोक में बहुतायत से देखा जा सकता है कि एक व्यक्ति को एक वस्तु अत्यन्त पसन्द है व वही वस्तु दूसरे को बिल्कुल नहीं सुहाती। अरे ! विभिन्न व्यक्तियों की तो बात ही क्या ? एक ही व्यक्ति को

कभी वही वस्तु अत्यन्त प्रिय लगती है तो कभी अत्यन्त अप्रिय। यदि तेज भूख लगी हो तो रूखी-सूखी मोटी रोटियाँ भी स्वादिष्ट लगती हैं और यदि पेट भरा हुआ हो, तो अत्यन्त प्रिय पकवान देखकर भी हीक आती है, वमन होने लगता है।

वैसे भी *स्वाद के आनन्द की उम्र ही कितनी है? जबतक भोजन थाली या हाथ में होता है, तबतक तो स्वाद का आनन्द आता ही नहीं एवं* जब गले से नीचे उतर जाता है, तब भी स्वाद के आनन्द का तो सवाल ही नहीं; हाँ अधिक भोजन कर लेने पर वेदना ही होती है। अब सिर्फ बचा रहता है, कुछ ही क्षणों का वह काल जबकि भोजन जिव्हा से गुजरता है, सिर्फ इसी छोटे से काल में भोजन का तथाकथित आनन्द प्राप्त किया जा सकता है ? पर इस कुछ क्षणों के आनन्द के लिए अनन्त जीवों का घात? क्या यह सब जान लेने के बाद भी वह भोजन स्वादिष्ट लग सकता है, लगना चाहिए ? और यदि फिर भी हमें वही चाहिए तो समझना चाहिए कि हममें गृद्धता कितनी अधिक है, कितना बड़ा पाप है यह ?

क्या हमारी यह स्वाद लिप्सा, अनन्त आकुलतारूप नहीं है ? जबतक इष्ट भोजन न पा सकूँ, तबतक विरह की व्याकुलता, फिर उसे जुटाने के प्रयत्नों की आकुलता और फिर अनन्त जीवों का घात करनेरूप परिणामों की क्रूरता भरी तड़प यह सब दुःखरूप है या आनन्दरूप ? फिर इसमें आनन्द कहाँ है ?

वर्तमान में अनन्त आकुलतारूप दुःख व कर्मबन्ध तथा भविष्य में कर्मोदय आने पर प्रतिपल संयोगों की प्राप्ति व तद्जनित आकुलता।

यदि हमारे किसी इष्टजन का वियोग हो जावे तो हमें भोजन अच्छा नहीं लगता, सुस्वादु भोजन भी ! अरे चिरवियोग की तो बात ही क्या, यदि कुछ काल के लिए भी पुत्र दूर चला गया हो तो माँ को भोजन नहीं रुचता।

अनन्त जीवों के घात की कीमत पर भी अभक्ष्य भक्षण करना ही है, क्या यह उन अनन्त जीवों के प्रति हमारी अनन्त उपेक्षा नहीं है,

अनन्त शत्रुता नहीं है ? वह भी मात्र तत्क्षण नहीं, बल्कि प्रतिपल; क्योंकि हम उन अनन्त जीवों के प्रति मात्र उसी पल अपराध नहीं करते हैं, जब हम उनका घात कर रहे होते हैं, बल्कि उनके प्रति शत्रुता तो हमारे हृदय में प्रतिपल पलती रहती है, जब-जब हमें आवश्यकता हो हम उनके घात के लिए कटिबद्ध रहते हैं और इसीलिए प्रतिपल भयभीत, शशंक व सतर्क बने रहना उनकी नियति है और इसलिए न तो यह अपराध कुछ क्षणों का है और न कर्मबन्ध कुछ ही पलों का, यह एक निरन्तर पाप है, सत्तत कर्मबन्ध का कारण है।

सिंह जंगल में प्रतिपल शिकार में व्यस्त नहीं रहता, शिकार तो वह कभी-कभी ही करता है, मात्र भूख लगने पर, वह भी मात्र एक जानवर का; परन्तु एक नहीं सभी प्राणी भयभीत तो सदा ही बने रहते हैं। एक बार, एक प्राणी पर हमले की आशंका में सारे जानवर हमेशा ही भय का महादुख भोगते हैं, उन अनन्त प्राणियों को अनन्तकाल तक अनन्त भयभीत रखने वाला सिंह का वह क्रूर परिणाम क्या मात्र एक दिन में एक जानवर की हिंसा का साधारण पाप है ? नहीं, किसी भी वक्त कोई भी प्राणी उसके हाथ पड़कर अपना जीवन गंवा सकता है। इसप्रकार उसके रहते कभी भी किसी भी प्राणी की सुरक्षा असंदिग्ध नहीं है; इसीलिए वह सिंह प्रतिपल सम्पूर्ण प्राणीमण्डल का अपराधी है। उसीप्रकार अभक्ष्य का भक्षण करनेवाला मनुष्य (जीव) प्रतिपल ही जगत के समस्त प्राणियों के प्रति अपराधी है।

अरे सिंह तो फिर भी पेट भर जाने पर शिकार नहीं करता, पर यह मनुष्य ? स्वयं का पेट भरा होने पर पड़ौसी के लिए अथवा आज नहीं तो कल के लिए भी शिकार कर गुजरेगा ? इसकी अनन्त लालसा के सामने तो कोई भी, कभी भी सुरक्षित नहीं।

कौन कह सकता है कि उन अनन्त जीवों में हमारे भूत व भावी अनन्त भवों के अनन्त माता-पिता, पुत्र-पुत्री, बन्धु-बान्धव व मित्र-संबंधी नहीं होंगे। कौन कह सकता है उन अनन्त जीवों में भविष्य के अनन्त सिद्ध

शामिल नहीं होंगे ? भूत व भविष्य की बात क्या करें। **वे सभी हमारी ही तरह वर्तमान में भी तो अनन्त गुणों के स्वामी भगवान आत्मा ही हैं।**

उन अनन्त भगवान आत्माओं के प्रति हमारी यह घोर उपेक्षा, हमारा यह घोर प्रमाद; क्या कोई छोटा अपराध है ? वह भी मात्र एक क्षण के स्वाद के लिए।

अरे ! **यह उन अनन्त भगवान आत्माओं का ही घात नहीं था, यह तो निज भगवान आत्मा का घात था, इस अबंधस्वभावी भगवान आत्मा के लिए अनन्त कर्मबंध का निमित्त व अनन्तकाल तक भव-भ्रमण का कारण था; पर मुझे इसकी खबर ही नहीं।**

क्या-क्या अन्याय व अनीति नहीं की मैंने ? न सही अपने पुत्र के लिए, मित्र के बेटे के लिए ही सही; पर रिश्वत देकर पीएमटी (Pre Medical Test) की परीक्षा में पास करा देना क्या छोटा अपराध था ?

रिश्वत देकर समाज व शासनव्यवस्था को तो भ्रष्ट किया ही, पर जिस विद्यार्थी का हक छीनकर अपने मित्र के नाकाबिल पुत्र को दिलाया, उसके प्रति कितना बड़ा अपराध था वह? जिस योग्य छात्र का हक मैंने छीन लिया, उस पर क्या गुजरी होगी ? जाने क्या बन पाया होगा वह? न जाने कुछ बन भी पाया होगा या नहीं; या जीवन भर के लिए एक साधारण आदमी बनकर रह गया होगा, एक साधारण मजदूर; बेचारा मजबूर। न जाने किस अंधेरे घर का दीप प्रज्वलित होते-होते रह गया होगा ? कौन जाने उस घर का अंधेरा उसके बाद कभी मिट भी सका होगा या नहीं।

यह मात्र उस छात्र के प्रति ही अपराध नहीं था, यह उसके विवश माता-पिता के प्रति भी कितना बड़ा अन्याय था, जिनकी आँखों का वह तारा होगा, उनकी आशाओं व अरमानों का एकमात्र केन्द्रबिन्दु। कौन जाने उस एक घोड़े पर उन्होंने क्या-क्या दाव पर लगा रखा हो ? हो न हो शायद सर्वस्व ही। मात्र इस आशा में कि यदि एक बार यह डॉक्टर बन जावे, तो जन्म-जन्म के पाप कट जावें, दारिद्र्य मिट जावे ! जब मेरे इस

दुष्कृत्य के कारण वह असफल घोषित कर दिया गया होगा, तब उनका क्या हुआ होगा, उन पर क्या गुजरी होगी ? अरे सिर्फ वही क्यों ? क्या उनकी आगामी अनगिनत पीढ़ियाँ जीवन के उजालों से वंचित नहीं कर दी गईं, अन्धकार के गर्त में नहीं धकेल दी गईं ? उद्गमस्थल पर विद्युत का तार काट दिये जाने पर सम्पूर्ण महानगर अंधकार में डूब जाता है।

और वह दुष्कृत्य मैंने जिसके लिए किया था, उसने क्या किया ?

वह तो 10 साल में जैसे-तैसे डॉक्टर बनने के बाद अंगूरों के निर्यात के कारोबार में लग गया।

क्या यह देश व समाज के प्रति मेरी गद्दारी नहीं थी, क्या मैंने अनेकों मरीजों को एक योग्य डॉक्टर की सेवा से वंचित नहीं कर दिया ? जाने वह कितने लोगों की जीवनरक्षा का निमित्त बनता।

प्रतिदिन अपने इसीप्रकार के अविचारी कृत्यों द्वारा हम देश व समाज का इतना बड़ा नुकसान कर डालते कि अपना सम्पूर्ण जीवन भी समाजसेवा में झोंककर हम इसकी क्षतिपूर्ति नहीं कर सकते।

कभी-कभी तो हम अपने इन्हीं कृत्यों को समाजसेवा मान बैठते हैं और इस सबके बदले समाज से अनेकों अभिनन्दन और न जाने क्या-क्या अपेक्षायें करने लगते हैं। क्या यह अनन्त बंध का कारण नहीं होगा ?

अरे कितने अज्ञ हैं हम! हम स्वयं अपने आपको नहीं जानते; हम स्वयं अपने मनोभावों का विश्लेषण नहीं कर पाते हैं। हम क्या हैं और अपने आपको क्या समझते हैं और स्वयं हमारी निगाहों से ओझल, हमारे अन्दर छुपी हुई हमारी अपनी हीन-वृत्तियाँ किसप्रकार समाज के वातावरण को विषाक्त किया करती हैं, इसकी हमें कल्पना ही नहीं रहती है।

इसे कुल की मर्यादा के उल्लघंन का डर कहो या दुस्साहस की कमी; कि उन कुकर्मों में मैं स्वयं लिप्त नहीं हुआ, परन्तु अपने ही कॉलेज के साथी मित्रों द्वारा अनेकों नवयौवनाओं के उज्ज्वल जीवन में अनंत अंधकार बिखेर देने के प्रयासों का मैं मूक साक्षी कैसे बनकर रह सका ?

क्या सचमुच ही मैं अपने स्वयं के मित्रों को रोकने में अक्षम था ? मुझे उन कन्याओं में अपनी भगिनी (बहिन) के दर्शन क्यों नहीं हुए ? कहीं मेरे अवचेतन के किसी कोने में छुपी वासना उनका मौन अनुमोदन तो नहीं किया करती थी ? क्यों नहीं मैंने उस दौर में अपने अन्तर को टटोलने का प्रयास किया ? क्या किसी की क्षणिक वासना की तृप्ति के लिए, किसी का संपूर्ण जीवन कलंकित कर डालने का प्रयास काबिले माफ है ?

मैं तो अपने आपको चारित्रिक व मानसिक धरातल पर समाज के उच्चतम वर्ग का प्रतिनिधि समझता हूँ। अगर इस सर्वोच्च वर्ग का मानस ऐसा है तो अन्य किससे क्या अपेक्षा की जा सकती है ? और सारा समाज इसीप्रकार की वृत्तियों से आप्लावित है – यह जानकर आज अपने कोमलमति बालकों को रक्षणहीन, स्वतंत्ररूप से अपने इस समाज में विचरण करने के लिए अकेला छोड़ने की कल्पनामात्र आज मुझे कम्पायमान कर देती है।

एक सभ्य समाज अपने सदस्यों से सभ्य, नैतिक, उदार एवं सच्चरित्रमय स्नेहिल व्यवहार की अपेक्षा करता है और लड़कपन का उद्दाम प्रवाह इसप्रकार की अपेक्षाओं को बन्धनों का नाम देकर रौंद डालना चाहता है; पर वक्त के साथ-साथ जब वह प्रवाह मन्द पड़ता है व हम शिकारी से मिटकर शिकार बनने की स्थिति में आने लगते हैं; तब हमें सभ्यता, नैतिकता, उदारता, सच्चरित्रता एवं स्नेह के सुरक्षा कवच की आवश्यकता गहराई से महसूस होने लगती है; पर उससमय कोई और लड़कपन की उन्हीं निर्लज्ज, निष्ठुर, उदण्ड, उद्दाम तरंगों पर सवार होकर समाज की उक्त अपेक्षाओं के विरुद्ध विद्रोह का विगुल बजाने लगता है और हम एक अपरिष्कृत समाज के बीच रहने के लिए अभिशप्त बने रहते हैं।

क्या हम स्वयं अपनी वृत्तियों को परिमार्जित करके अपने स्वयं के लिए एक बेहतर समाज की रचना नहीं कर सकते; एक ऐसा समाज, जिसमें रहने से हम भयभीत व सशंकित न रहें; हम अपने आपको संरक्षित महसूस करें।

अब वर्माजी वाले मामले की ही बात लीजिए। इस बात से कौन इन्कार करता है कि पड़ौस वाले वर्माजी का हमारे घर की भूमि का एक हिस्सा दबा लेना, एक अन्यायपूर्ण कदम था; तथापि क्या उस कुछ गज भूमि के टुकड़े के लिए अनेकों वर्षों तक कोर्ट में केस लड़ना व अपने उपयोग को उसमें उलझाये रखना मेरे लिए उचित था? मैंने कितनी रातें काली की हैं उन द्वेषपूर्ण विचारों में। आखिर मिला क्या ? भूमि का वह टुकड़ा तो पहले भी वहीं था, अब भी वहीं है; तब भी खाली पड़ा था, अब भी वैसा ही खाली पड़ा है।

जीवन के वे कुछ वर्ष व वह महत्त्वपूर्ण समय जो किसी सार्थक चिन्तन में बीत सकता था, द्वेष के गन्दे नाले में बह गया। शायद वर्माजी द्वारा किया गया वह छोटा-सा अन्याय, मेरे स्वयं के द्वारा अपने स्वयं के प्रति किये गये अनन्त कर्मबन्धन के इस घोर अन्याय के सामने नगण्य ही ठहरता।

और फिर वर्माजी का प्रकरण तो मात्र एक उदाहरण मात्र है, पर इसतरह के अनेकों प्रसंग कदम-कदम पर मेरे जीवन में आते रहे और उन्हें निमित्त बनाकर मैं निरन्तर ही आर्त-रौद्र ध्यान में व्यस्त रहा, बड़े-बड़े सैद्धान्तिक जामे पहिनाकर अपनी इसी मलिन परिणति को विभूषित करता रहा।

"अन्याय करना भी अपराध है व अन्याय सहना भी अपराध है।"

उक्त उक्ति का सहारा लेकर अपने हर विद्वेषपूर्ण कर्म को अन्याय के विरुद्ध अपने संघर्ष का नाम देता रहा। यदि सचमुच हम उक्त सिद्धान्त का पालन करते हैं तो हर समय क्यों नहीं, हर घटना में क्यों नहीं, हर व्यक्ति के साथ क्यों नहीं; इसी सिद्धान्त को लागू करते ? सिर्फ कहीं-कहीं ही क्यों?

पर हम तो सिद्धान्तवादी नहीं, सुविधाभोगी जीवन जीते हैं, जहाँ कोई तथाकथित सिद्धान्त हमारे क्षणिक स्वार्थ का पोषण करता है, वहाँ हम सिद्धान्तवादी बन जाते हैं और किसी क्षुद्र से स्वार्थ की पूर्ति में यदि बड़े से बड़ा सिद्धान्त बाधक बनता है, तो हम उसकी भी परवाह नहीं करते हैं।

जब किसी लंगड़े-लूले, अपंग-असमर्थ, बूढ़े-भिखारी को मात्र पेट

भरने के लिए एक-दो रुपये भीख देने का सवाल खड़ा होता तो भिक्षावृत्ति को बढ़ावा न देने का मेरा सिद्धान्त आड़े आ जाता है और मेरी जेब में पड़े वे सिक्के वहीं अठखेलियाँ करते रह जाते हैं, मेरे हर कदम के साथ 'हरी कीर्तन' करते रहते हैं व उस भिखारी के पेट में चूहों की उछल-कूद जारी रहती है; पर ट्रेन में एक रात के लिए सीट पाने के लिए हम तुरन्त कुछ सौ रुपये निकाल कर टी.सी. को दे देते हैं एवं धन्यवाद बोलते हैं। तब हमें याद नहीं आता कि इसतरह रिश्वतखोरी को बढ़ावा देकर मैं सम्पूर्ण समाज को भ्रष्ट कर रहा हूँ और यह नासूर न जाने देश और समाज को किस गर्त में ले जावेगा।

सचमुच यह संसार तो सम्पूर्णतः अन्यायपूर्ण ही है। अरे ! अन्यायपूर्ण क्या ? 'अन्याय' ही संसार है व संसार मात्र 'अन्याय' ही है। अरे दैनिक जीवन की छोटी-बड़ी बातों की तो बात ही क्या की जावे ?

कौन फैसला करेगा कि ट्रेन में चढ़ते वक्त आपने मुझे जो धक्का दिया, वह इरादापूर्वक किया गया कृत्य था या अनायास, उचित या अनुचित, काबिलेमाफ था या नाकाबिले माफ ? अरे यहाँ तो अपने एक समय की उदरपूर्ति के लिए एक प्राणी दूसरे प्राणी को बिना अपराध, बिना पहिचान, बिना शत्रुता-मित्रता के, जीवित ही निगल जाता है और किसी को कोई मलाल नहीं रहता। ऐसे इस जगत में न्याय-अन्याय की बात करना बेमानी नहीं लगता ? क्या अब भी न्याय की कोई उम्मीद रह जाती है ? यदि हमें न्याय ही चाहिए तो "मात्र मुक्ति का विचार ही अन्याय का प्रतिकार हो सकता है।"

समझाने को तो मैं अपने मन को समझा सकता था कि प्यार, युद्ध व व्यापार में सब जायज है; पर क्या मैं सचमुच अपने आपको उस मुनाफा खोरी के कृत्य के लिए माफ कर पाऊँगा, जिसके कारण हो न हो कितने लोगों को चार रोटियों की आवश्यकता होते हुए भी तीन रोटियों से ही संतुष्ट होना पड़ा होगा, या कि बच्चे का पेट अच्छी तरह से भरने के प्रयास में माता को भूखा ही सो जाना पड़ा होगा। आखिर इसप्रकार उपार्जित वह

धन आज मेरे किस काम आया ? आज तो मुझे न उसे गिनने का अवकाश है न सम्भालने की सामर्थ्य; इस निष्ठुर कृत्य से उपार्जित वह द्रव्य आज मेरी सम्पत्ति का एक नगण्य-सा हिस्सा ही तो है।

उन निर्दयी परिणामों के फलस्वरूप हुए कर्म बन्धनों का अनन्त बोझ तो आज मेरे सिर पर है; पर क्या इस राशि का कुछ भी हिस्सा मैं अपने साथ ले जा सकूँगा ?

पैसा! पैसा!! पैसा!!! न जाने कैसी अद्‌भुत वस्तु है यह पैसा ! मानव सभ्यता का अनुपम अनुसंधान एक विस्मयकारी सर्जन।

आचार्यों ने कहा है **समयो सव्वत्थ सुन्दरो लोए** अर्थात् आत्मा लोक में सबसे सुन्दर है; पर हमें तो लोक में पैसे से ज्यादा सुन्दर कुछ दिखाई ही नहीं देता; न जाने कैसा गजब का आकर्षण है इसमें। सारी दुनिया दीवानी हुई जा रही है इसके पीछे।

क्या सचमुच यह ऐसी वस्तु है, जिसके पीछे सबकुछ समर्पित कर दिया जावे, कोई भी बलिदान किया जा सके।

जिस पैसे के लिए हम अपना सारा जीवन झोंक डालते हैं, क्या वह सम्पूर्ण पैसा देकर भी हम पुनः जीवन का एक क्षण भी खरीद सकते हैं ? नहीं ! तब हम अपना यह जीवन धनोपार्जन में कैसे झोंक सकते हैं ?

जगत में सोने का भी बड़ा आकर्षण है। पर वह जगत के परिप्रेक्ष्य में उचित ही कहा जावेगा; क्योंकि हम पैसा देकर सोना खरीद सकते हैं व जब चाहें सोना बेचकर फिर पैसा प्राप्त कर सकते हैं। दोनों के बीच बराबरी का व्यवहार है और इसलिए दोनों बराबरी की वस्तुएँ हैं, एक के पीछे दूसरे की कीमत चुकाई जा सकती है, पर जीवन और पैसे के बीच इसप्रकार का रिश्ता नहीं है, सारा जीवन झोंक डालें फिर भी पैसा मिले तो मिले, न मिले तो न भी मिले। यदि मिल भी जावे, विपुल दौलत मिल जावे; तब भी उस सारी दौलत को एक क्षण के जीवन में परिवर्तित नहीं किया जा सकता।

उक्त तथ्य साबित करता है कि जीवन कोई बाजारु चीज नहीं है, क्योंकि यह बाजार के नियमों का पालन नहीं करता।

ठीक यही फार्मूला चरित्र पर, भावनाओं पर व संवेदनाओं पर भी लागू होता है।

अपने चरित्र का पतन कर व स्नेहीजनों व समाज की भावनाओं को आहत कर हम धन-दौलत तो जुटा सकते हैं, पर फिर धन-दौलत लुटाकर चरित्र व भावनायें पैदा नहीं की जा सकतीं; इसलिए मैं कहता हूँ कि ये वस्तुएँ भी बाजारु नहीं, क्योंकि ये भी बाजार के नियमों का पालन नहीं करतीं।

यदि इस दृष्टिकोण से मैं विचार करता तो क्या सारा जीवन यूँ ही 'धन संग्रह' में ही नष्ट कर डालता ?

अब रामू की ही बात लें। क्या रामू की गाथा हमारे जीवन का सबसे काला अध्याय नहीं है? आखिर क्या अन्तर था हम सभी में व उसमें ? उसने लगभग अपना सारा जीवन ही तो हमारे ही घर में हमारे साथ ही बिता दिया, हम सभी की सेवा करते हुए; अभी बमुश्किल 10-12 साल का ही तो रहा होगा, जब उसकी माँ उसे हमारे घर पर छोड़ गई थी, यह कहते हुए कि 'यहीं किसी कोने में पड़ा रहेगा, बचा-खुचा बासी खाकर पल-बढ़ जायेगा बाबूजी ! और बदले में घर के कामों में हाथ बंटा दिया करेगा।'

उस दिन छोड़कर क्या गई मानो मातृत्व के दायित्व से मुक्त हो गई, फिर तो उसने कभी मुड़कर उसकी खोज-खबर ही न ली।

रामू यहीं इसी घर में, इन्हीं बच्चों 'समकित व सुरभित' के साथ ही तो खेलते-खाते बड़ा हो गया, फर्क था तो सिर्फ इतना कि जब वे साथ-साथ खेलते तो वे जीतते रहे वह हारता रहा, वे रूठते रहे वह मनाता रहा, वे फैलाते रहे वह समेटता रहा।

लगभग साथ-साथ जन्मे, पले-बड़े व रहे; पर वे क्या बन गए और यह क्या बनकर रह गया?

रसोईघर के कामों में हाथ बंटाते-बंटाते रामू एक सिद्धहस्त रसोईया बन गया था। यह तो उसकी काबिलियत थी कि रसोईघर पर वह एकछत्र काबिज हो गया था। उसके रहते कभी किसी को वहाँ जाने की जरूरत ही न पड़ती। शायद उसके सिवा कोई और जानता भी न था कि चाय में किसे कितनी चीनी चाहिए व सब्जी में किसे कितनी मिर्ची या कि किसका फुल्का कितना सिकना चाहिए? आलम तो ये हो चला था कि जब कभी यदा-कदा उसे अपने गाँव जाने का मन हो आता तो मानो घर-परिवार पर संकट के बादल से छा जाते। सबके कारण अपने-अपने थे, पर उसके जाने की खबर सुनकर सांप सभी को सूंघ जाता था।

अम्मा को लगता था कि दिन का अधिकांश समय अब रसोईघर में ही बीतेगा। मुझे चिन्ता होने लगती कि शायद दिन में दो-तीन कप चाय की कटौती तो हो ही जायेगी। समकित जानता था कि अब समय पर स्कूल पहुँचने के लिए उसे विशेष सावधानी रखनी होगी, तो सुरभित को चिन्ता थी अपनी पसन्द का भोजन न मिल पाने की; क्योंकि माँ का जोर स्वादिष्ट खाने की अपेक्षा पौष्टिक व स्वास्थ्यवर्धक भोजन पर अधिक रहता था।

वह साल में मुश्किल से 15-20 दिन के लिए गांव जाता था और एक खुली जेल के आजन्म कैदी की भांति पैरोल की अवधि खत्म होते ही फिर वापिस अपने उसी रसोई घर में आकर कैद हो जाता था, लगभग वर्ष भर के लिए।

इसीतरह वर्षों बीत गए, कभी किसी ने गौर ही नहीं किया कि कब वह शादी कर आया व कब उसके बाल-बच्चे हो गये और माता-पिता मर-खप गये। उसका और सबकुछ हमारा अपना था, सिवाय उसकी उन व्यक्तिगत खुशियों और गमों के तथा उसकी पगार; लगभग 1000 रुपये माहवार के।

मैं गवाह हूँ कि किसतरह उसका बचपन बड़ी तेजी से झटपट गायब

हो गया था, पर एक सीजन तो बीच में छूट ही गया, मानो यौवन तो उसके आया ही नहीं और अभी जब समकित और सुरभित की जबानी सबाब पर थी, वह असमय ही बुढ़ाने लगा। बाल पक गये, चेहरा लटक गया व कमर झुकने लगी। न जाने ऐसे कौन से रोग ने आ घेरा कि यकायक वह बिखरने लगा। हालांकि न तो उसकी बीमारी के बारे में मालूम करना मुश्किल काम था और न ही बीमारी का इलाज करना; पर यह सब कौन करता? आखिर किसी के भी पास फालतू वक्त ही कहाँ था, कोई अपने जीवन की उपलब्धियों को भोगने में व्यस्त था तो किसी का कैरियर अपने सबाब पर था और कोई अपने जीवन की आधारशिला को मजबूत करने में जी-जान से जुटा हुआ था; ऐसे में उस बिखरते खण्डहर की तरफ ध्यान देने की फुर्सत ही किसे थी? हाँ एक चिन्ता कभी-कभी जरूर हो जाया करती थी कि कहीं उसे कोई चेपी रोग तो नहीं है? कहीं ऐसा न हो----

15 मिनिट बचाने के लिए, लाइन में लगकर सिनेमा के टिकिट लेने की बजाय जिन्हें 10-20 टिकिट भी 100 रुपये प्रति टिकिट ब्लैक में लेना पोसाता हो, वे उसे लेकर कई दफा घण्टों तक म्यूनिसिपिल हॉस्पिटल आउट डोर की लाइन में खड़े रहते थे; क्योंकि आखिर उसका इलाज किसी प्राइवेट डॉक्टर से कैसे कराया जा सकता है? उसकी फीस तो 100 रुपये है न!

और एक दिन जब पानी सिर से ऊपर बढ़ने लगा तो परिवार के सभी सदस्यों की एक आवश्यक मीटिंग हुई, जिसमें आवाल-गोपाल सभी ने अपने-अपने विचार व्यक्त किये। उसके बिगड़ते स्वास्थ्य के प्रति अपनी-अपनी चिन्ता व्यक्त की, तद्जनित दुष्प्रभावों का आकलन किया गया और फिर एक सर्वसम्मत निर्णय के तहत अगले ही दिन उसे उसके जीवन भर की सेवाओं के पुरस्कार स्वरूप बीस हजार रुपये नकद इनाम देकर बिना उसके गाँव का नाम व पता पूछे ही उसके गाँव जाने वाली बस में बिठा दिया गया। हाँ, इस बार उसके बैग की तलाशी भी नहीं ली गई थी।

उस दिन रामू गया, सो गया। उसके बाद आज तक किसी को भी मालूम नहीं कि उसका क्या हुआ ?

एक दिन वह था, जब रामू के बिना घर का पत्ता भी नहीं हिलता था। घर में कोई भगवान का नाम ले या न ले पर रामू का नाम दिन में सैंकड़ों दफे लिया जाता था। यदि चार बार आदेश दिये जाते थे तो दश बार चिरौरियाँ भी की जाती थीं, पर आज उसे कोई याद भी नहीं करता है। मानो वह दुःस्वप्न जीवन में कभी आया ही न था।

आज उसकी जगह गोपाल ने ले ली है।

जब से रामू घर में आया था, तब से आज तक उसके साथ घटित होनेवाली हर घटना का मैं मूक, किन्तु जागरुक साक्षी बना रहा। मैं हर चीज के मायने बड़ी अच्छी तरह समझता था, पर मैंने यह सब बदलने की कोशिश कभी नहीं की।

हाँ यह सत्य है कि मुझे स्वयं यह सब अच्छा नहीं लगता था और शायद यदि स्वयं मुझे ही इस व्यवहार का संचालन करना होता तो मैं कर भी नहीं पाता; तथापि सब कुछ मेरी मौन सहमति से चलता रहा।

हालांकि हर घटनाक्रम पर मेरी पैनी निगाह रहती थी और सबकुछ ठीक-ठाक चलता देख, मैं उस सबसे अनभिज्ञ दिखने का ही प्रयास करता। हाँ कभी-कभी किसी क्षणिक भावावेशवश कोई उसके प्रति अतिरिक्त संवेदनशील हो उठता, कृपावन्त हो जाता तो अति संक्षेप में ही, मोह तजने की प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रेरणा देकर मैं तत्काल ही उससे विमुख हो लेता, ताकि कोई मेरे इस योगदान का नोटिस भी न ले सके।

मैं इसीप्रकार काजल की कोठरी में किसी तरह सावधानीपूर्वक बचते-बचाते एक शुभ्र व धवल जीवन जीता रहा। यूँ तो मेरे जीवन का अनुभव बोलता है कि **किसी का मनोगत छुपता नहीं, प्रगट हो ही जाता है। किसी का कुछ जल्दी या किसी का कुछ देर से। यदि कोई समझता है कि दुनिया मुझे सिर्फ उसीरूप में देख पाई है जैसा कि मैं दिखने की**

कोशिश करता रहा, तो यह उसकी भ्रान्ति है। होता तो यह है कि लोग यह तो भांप ही लेते हैं कि आप कैसे हैं, साथ ही साथ यह भी भांप जाते हैं कि आप क्या छुपाने का प्रयास कर रहे हैं व कैसे दिखना चाहते हैं? और फिर वे आपका भ्रम बनाये रखने में आपके सहयोगी बन जाते हैं और ऐसा ही प्रदर्शन करते हैं मानो वे कुछ समझे ही नहीं। **इसे ही तो कहते हैं सभ्यता का विकास।**

नंगे राजा को नंगा कहने का मूर्खतापूर्ण साहस तो हजारों लोगों के बीच मात्र एक नासमझ बालक ही कर सकता है न !

आज जब यह विचार मेरे मन में आता है कि कोई जान पाया या न जान पाया; पर क्या प्रकृति से मेरा यह विचार छुप सका होगा? जाने कैसे-कैसे कर्मबन्ध हुए होंगे मेरे इन मायाचारी परिणामों के फलस्वरूप। क्या मुझे स्वयं ही इन एक-एक कृत्यों का फल नहीं भोगना पड़ेगा।

मैं आज खुद अपने आपसे पूछता हूँ कि आखिर क्या फर्क था उसमें और हम सब में?

हम सभी तो भवसागर में भटकते-भटकते मात्र संयोगवश ही, मात्र कुछ ही समय के लिए यहाँ एक छत तले एकत्र हो गये हैं और चाहे अच्छी तरह रहें या एक-दूसरे से उलझते रहें, एक निश्चित समय तो सभी को साथ-साथ गुजारना भी अपरिहार्य ही है व फिर एक-एक कर बिखरने के क्रम को रोक पाना भी किसी के लिए सम्भव नहीं है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि सभी के आगमन के मार्ग अलग-अलग हैं। कोई जन्म लेकर इस कुनबे में शामिल हुआ तो कोई ब्याहता बनकर और कोई किसी अन्य मार्ग से अपने पूर्व जन्मों का कर्जा उतारने के लिए, अपना स्वयं का घर-बार छोड़कर इस कुनबे में शामिल हो गया।

यह तर्क बिल्कुल ही बेमानी है कि उसने हमारी माँ की कोख से जन्म नहीं लिया फिर आखिर वह हम जैसा कैसे हो सकता है, हमारा कैसे हो सकता है ? यदि अपनेपन का यही मापदण्ड है तो फिर यही

फार्मूला अपनी ब्याहता स्त्रियों पर भी तो लागू होता है ? पर वे तो समय पाकर अपने सहोदर से बढ़कर हो जाती हैं, अरे ! बढ़कर क्या ? वे ही सबकुछ हो जाती हैं, सहोदर तो अन्य हो जाता है।

मैं समझ नहीं पाता कि एक अन्य घर से आई स्त्री जब इस घर में इसतरह घुलमिल जाती है, इस मय हो जाती है, तो फिर यह सेवक क्यों नहीं ? यह भी तो उस कन्या की ही तरह अपना सबकुछ छोड़कर यहाँ आ गया है और जिसप्रकार वर्ष में कुछ दिन के लिए पत्नी मायके हो आती है; वह भी हो आता है। यदि पत्नी विषय-पोषण में निमित्त बनती है तो यह भी कहाँ पीछे है ? फर्क है तो सिर्फ इतना ही न, कि कोई एक इन्द्रिय के भोग में निमित्त बनता है व कोई अन्य इन्द्रिय के।

यदि कोई फर्क है तो मात्र अपनेपन का, अपनापन महसूस करने का। पर रामू तो इस परिवार के साथ एकमेक ही हो चुका था। उसे तो हमेशा ही इसी परिवार की खुशियों के बीच चहकते देखा गया है व परिवार के गम में गमगीन होते देखा गया है। उसके अपने जीवन में भी कोई ईद या मुहर्रम आई या आया हो ऐसा हम सभी तो कभी महसूस नहीं कर सके। फिर क्यों, हम जैसा खाते-पीते, हमारे साथ ही रहते, इसी हवा में श्वासोच्छ्वास लेते हुए और सुख-दुःख का भागीदार बनते हुए सारा जीवन ही तो बीत गया, तब भी वह बेगाना ही बना रहा ?

क्या उसके प्रति मेरा; मेरा ही क्या हम सभी का यह उपेक्षाभाव अनन्त क्रोध, अनन्त द्वेष की श्रेणी में नहीं आता ? यदि ऐसा है तो हमने कभी क्यों नहीं सोचा कि **इन भावों का फल क्या होगा?**

अरे लोक में भी खून की सजा खून या आजीवन कारागार होती है। एक खून करो और जीवनभर कारागार में रहकर उसका कर्ज उतारो; फिर हर पल किये गये किसी की संवेदनाओं के खून का मुझे क्या प्रतिफल मिलेगा ? क्या कभी मुझे भी इसीतरह अपना पूरा जीवन झोंककर किसी का कर्ज उतारना होगा ?

काश ! यह आज वाली समझ मुझे पहिले ही आ जाती। **जीवन तो जीना ही था, यदि विचारपूर्वक जिया होता तो यही जीवन, जीवन-मरण का अन्त करनेवाला साबित होता,** जो अब अनन्त भव-भ्रमण का निमित्त बनकर रह गया है।

कितना आत्ममुग्ध था मैं अपने मनोभावों को प्रकट न होने देने वाली अपनी व्यवहार शैली पर। इसे मैं जीवन जीने की कला मानता रहा और अपनी इस काबिलियत पर स्वयं ही अपनी पीठ थपथपाता रहा। हालांकि मन मेरा भी थोड़ा कम या थोड़ा ज्यादा, मलिन ही था; पर लोग मुझे महन्त समझते रहे और मैं भी अपने व्यवहार से उन्हें यही आभास देता रहा। शायद यही कारण रहा कि मुझे सचमुच महन्त बनने की आवश्यकता ही महसूस न हुई; क्योंकि तत्कालिक तौर पर तो मुझे महन्तपने की मान्यता मिलती ही रही, पर मैंने कभी यह तो सोचा ही नहीं कि **मेरा यह व्यवहार मायाचार की श्रेणी में आता है और मुझे अपने इस एक-एक पल के मायाचार के लिए युगों-युगों तक क्या कीमत चुकानी होगी ?**

क्या यही जीवन सीधे व सरल व्यवहार के साथ नहीं जिया जा सकता था ? तब भी क्या कसर रह जाती मेरे जीवन में ? यूं तो यह शाश्वत सत्य है कि मान-प्रतिष्ठा, भोगसामग्री, अधिकार व अनुकूल-प्रतिकूल संयोग सब पूर्वकृत पुण्य-पापादि के उदयानुसार ही मिलते हैं और यदि मेरे तद्रूप पुण्य का उदय था तो इन सबसे मुझे कौन वंचित कर सकता था ? तब क्या मेरा यह छलकपट भरा व्यवहार व्यर्थ ही न रहा ?

अरे व्यर्थ कैसे रहेगा, वह तो अनर्थ का सृजन करेगा, तब शायद मैं विचार करूँगा कि यह मुझे किन पापों की सजा मिल रही है, पर शायद मुझे तब अपने इन पापों की स्मृति ही नहीं रहे और स्मृति रहे भी तो क्या?

मैंने अपने इन क्रियाकलापों को, अपनी इन करतूतों को पाप माना ही कब है? मैं तो इन्हें जीवन जीने की कला मानता रहा और इस जगत में

अपने अस्तित्व के लिए आवश्यक मानता रहा। मैं मानता रहा कि यदि यह सब न किया जावे तो जीवन सफलता पूर्वक जिया ही नहीं जा सकता; पर आज मैं स्वयं ही यह नहीं समझ पा रहा हूँ कि आखिर मेरी इस मान्यता का आधार ही क्या है ?

मेरी यह मान्यता आखिर क्यों बनी कि छलकपट रहित सीधे-सादे व्यवहारपूर्वक, जीवन सफलता पूर्वक नहीं जिया जा सकता ?

आज जब गम्भीरता पूर्वक विचार करता हूँ तो पाता हूँ कि यह सब मेरा मौलिक चिन्तन नहीं है, मैंने इस बारे में सोचा ही कब है ? अरे मेरे इस जीवन में चिन्तन को अवकाश ही कहाँ था ? यह मान्यता व इसीतरह की अन्य अनेक धारणायें तो मात्र जगत के वातावरण में से जगत की प्रचलित सामान्य मान्यताओं व कार्य प्रणालियों में से अनजाने ही ग्रहण कर लीं और उनका अनुसरण करने लगा। पर क्या सचमुच यह जीवन इसीतरह जिये जाने के योग्य था ?

क्या मुझे स्वयं चिन्तनपूर्वक अपने लिए, अपनी रुचियों व योग्यताओं के अनुरूप, जीवन-शैली का विकास नहीं करना चाहिए था? क्या अपने इस जीवन के लिए कुछ लक्ष्य निर्धारित नहीं करने चाहिए थे ? और फिर उन लक्ष्यों की पूर्ति करने वाली जीवनशैली नहीं अपनानी चाहिए थी? तब फिर हम सभी ऐसा क्यों नहीं करते ? क्यों नहीं स्वयं अपनी जीवन शैली का निर्माण करते ? क्यों नहीं अपने जीवन की दिशा निर्धारित करते? क्यों छोड़ देते हैं अपने इस जीवनरूपी तिनके को संसाररूपी सागर में स्वच्छन्द (भाग्य भरोसे) विचरण के लिए, जिसका न कोई लक्ष्य है न अपने आप पर कोई नियंत्रण।

यदि हम स्वयं अपने आपको इतना सक्षम नहीं मानते कि स्वयं विचारपूर्वक अपनी रीति-नीति और दिशा तय कर सकें व अनुसरण करना ही हमारी नियति हो, मजबूरी हो तो भी क्या अनुसरण भी विचार पूर्वक नहीं किया जाना चाहिए ? क्या हमें सुपात्रों का अनुसरण नहीं करना

चाहिए ? क्या हम कुछ आदर्श पात्रों का चुनाव नहीं कर सकते थे, जिन्होंने अपने जीवन के लक्ष्य निर्धारित किये थे और फिर उन्हीं लक्ष्यों को हासिल करने के लिए अपने जीवन की एक विशिष्ट शैली निर्धारित की थी, कुछ सिद्धान्तों का पालन किया था ? और अन्ततः हम भी उन पात्रों के समान अपने लक्ष्य को हासिल कर सकते थे।

हमने अनुसरण भी किया तो वह भी भीड़ का। भारी भीड़ में खड़े एक जनसामान्य की मानसिकता का अनुसरण किया, उसकी ही विचारधारा अपना ली, उसके जैसा ही आचरण करने लगे, उसके जैसी ही क्रियायें-प्रतिक्रियायें व्यक्त करने लगे; पर क्या कभी विचार किया कि ऐसा करके हम क्या पा सकेंगे ?

अरे और क्या पा सकेंगे **भीड़ का अनुसरण करके तो हम मात्र भीड़ का ही हिस्सा बन सकते हैं,** एक अदना-सा हिस्सा, लाखों लोगों जैसा; पर लाखों में मात्र एक, जिसकी शायद कोई अहमियत ही नहीं, कोई गिनती ही नहीं। अरे भीड़ में हजारों की तो कोई गिनती ही नहीं होती, हम कहते हैं न कि 10-15 हजार लोग थे। मानों, जैसे 10 हजार वैसे 15 हजार। 5 हजार कम या ज्यादा ! क्या फर्क पड़ता है ? जिन पाँच-दस हजारों की कोई गिनती ही नहीं, हम उनमें से एक बनकर रह जायेंगे।

यदि हम भीड़ का अनुसरण करेंगे तो भीड़ जैसे ही बन पायेंगे, कुछ विशिष्ट नहीं बन सकते। यदि हमें अनुसरण ही करना है तो उस विशिष्ट व्यक्ति का अनुसरण क्यों नहीं करें, जिसके इर्द-गिर्द यह लाखों की भीड़ मंडरा रही है ?

यदि हम विशिष्ट का अनुसरण करें तो विशिष्ट बन सकते हैं; पर इस सबके लिए तो चिन्तन की आवश्यकता है न !

दरअसल मैंने अपने लिए विचारपूर्वक कोई मार्ग चुना ही नहीं, बस अन्जाने ही अपने इर्द-गिर्द जो पाया, उसका अनुसरण करता चला गया और इसी का परिणाम है कि आज मैं इस मुकाम पर खड़ा हूँ।

सारा जीवन गुजार लेने के बाद आज मैं पाता हूँ कि जीवन की उपलब्धि के नाम पर आज मेरे पास ऐसा कुछ भी नहीं, जिसका दो वाक्यों में भी बयान कर सकूं।

यूँ कहने को तो लोग बहुत कुछ कहते हैं, मेरे जीवन की उपलब्धियों का बखान करते थकते ही नहीं और मैं भी अबतक उनकी बातों में आता रहा। वे बहलाते रहे और मैं बहलता रहा, गद्‌गद् होता रहा और अपनी उपलब्धियों को, अपने आपको महान समझता रहा। ठीक उन छोटे-छोटे बालकों की भांति जिनके क्रिया-कलाप न तो किसी भी मायने में विशिष्ट होते हैं और न ही किसी के लिए कोई खास मायने रखते हैं; फिर भी वे जो भी हरकतें करते हैं, हम बड़े लोग उनकी सराहना करते-करते थकते नहीं व उस सराहना से अभिभूत वे बालक अपनी उन बाल सुलभ क्रीड़ाओं को अपनी महान उपलब्धि समझते रहते हैं।

चूँकि जगत उन्हें उपलब्धि मानता है। मात्र इसलिए यदि मेरे क्रिया-कलापों को भी उपलब्धियाँ मान लिया जावे तो भी ये उपलब्धियाँ मात्र तात्कालिक ही तो थीं, उनका कोई दीर्घकालिक या त्रैकालिक महत्त्व तो था नहीं। जैसे कि कोई खिलाड़ी खेल खेलता है व जीत जाता है तो वह तबतक ही तो विजेता रहता है, जबतक कि अगली बार कोई अन्य खिलाड़ी न जीत जावे। उसकी वह विजय दीर्घकालिक महत्त्व नहीं रखती; पर यदि विजय प्राप्त करने के लिए कोई अनैतिक आचरण किया गया हो तो उसका प्रतिफल लम्बे समय तक भोगना होता है। यदि मैंने भी छल-कपट कर या उठा-पटक कर तात्कालिक तौर पर कुछ हासिल कर ही लिया तो वह तो तात्कालिक तौर पर अपना छोटा-मोटा प्रभाव उत्पन्न कर नष्ट हो गया, पर कर्मबन्धन की एक अनन्त शृंखला जो उत्पन्न हो गई, वह आज भी मेरा पीछा नहीं छोड़ती है।

अरे वह दिन तो निकल ही जाना था, न सही चिकना-चुपड़ा, रूखा-सूखा ही सही, खा-पीकर निकल जाता। सोने को मखमली शैय्या न

मिलती तो क्या रातें ही न कटतीं ? वो तो कट ही जानी थीं, पर अब इन कर्मों को मैं कैसे काटूँगा ?

यदि वे दिन कुछ वैभवशाली रूप में व्यतीत हुए तो उनका मेरे आज के लिए क्या महत्त्व है, मेरे आगामी अनन्तकाल के लिए क्या महत्त्व है? और इसके विपरीत यदि अभावों में व्यतीत हो जाते, तब भी मेरे वर्तमान में क्या कसर रह जाती व आगामी अनन्तकाल पर क्या दुष्प्रभाव डालती?

इन क्षणिक तात्कालिक महत्त्व की वस्तुओं के पीछे हम अपने आपको इसप्रकार समर्पित कर दें कि हमारे त्रैकालिक तत्त्व भगवान आत्मा का भावी अनन्तकाल ही संकट में पड़ जावे; मोक्षस्वभावी यह आत्मा अनन्त काल तक भवभ्रमण के लिए मजबूर हो जावे, यह कैसे उचित हो सकता है ? आखिर मैं ऐसा कैसे कर सकता हूँ ?

कोई कह सकता है कि तुम्हारी उपलब्धियाँ नष्ट कहाँ हुईं, आज सभी कुछ तो सामने है। क्या नष्ट हुआ है? व आगामी कई पीढ़ियाँ तुम्हारीं इन उपलब्धियों को भोगेंगी न! पर वे यह नहीं समझ पाते कि जिस आगामी पीढ़ी को वे मेरी पीढ़ी बतला रहे हैं, वह मेरी कहाँ है ? वह तो पुद्गल की पीढ़ी है, सचमुच तो जीवन के इस चौराहे पर जो कुनबा एकत्र हुआ है; उसमें न जाने कौन कहाँ से आया है तथा इस तात्कालिक सम्मेलन के बाद कौन कहाँ चला जायेगा, शायद फिर अनन्तकाल तक, कभी न मिलने के लिए। और हम हैं कि इन सभी से कितना गहरा लगाव महसूस करने लगते हैं।

त्रैकालिक दृष्टि रखने वाले संतों को हमारे यह क्रिया-कलाप वैसे ही बचकाने लगते हैं, जैसे हमें उन बालकों के क्रियाकलाप महसूस होते हैं, जो मात्र कुछ ही घण्टों की रेल यात्रा के दौरान मिले हुए अन्य बालकों के साथ इतना गहरा हार्दिक व मानसिक संबंध स्थापित कर बैठते हैं कि यात्रा की समाप्ति पर उनसे बिछुड़ने का प्रसंग आने पर किसी निकट संबंधी के मरण की सी छटपटाहट महसूस करने लगते हैं, विलाप करने लगते हैं।

बड़े व समझदार लोगों के साथ ऐसा नहीं होता; क्योंकि वे तो पहले से ही जानते थे कि यह जो सम्पर्क स्थापित हुआ है, यह तो मात्र क्षणिक ही है, न तो इससे पहले हम उन्हें जानते थे और न इसके बाद कभी मिलेंगे; ये लोग जाने इतनी बड़ी दुनिया में कहाँ से आये हैं व कल कहाँ खो जावेंगे।

हमारा जो दृष्टिकोण रेलयात्रा के क्षणिक साथियों के प्रति होता है, ज्ञानियों का वही दृष्टिकोण जीवन यात्रा के साथियों के प्रति भी होता है, क्योंकि अनादि-अनन्त इस आत्मा के जीवन में यह 100-50 वर्षों का एकाध भव एक दिन की रेलयात्रा से ज्यादा महत्त्व नहीं रखता।

यदि पीढ़ियों का ही विचार करना है तो **मेरी पीढ़ियाँ तो मेरे आगामी भव हैं; जो अभी मुझे भोगने हैं।**

अब यदि इस परिप्रेक्ष्य में मैं अपने क्रिया-कलापों को देखूँगा तो स्वयं अपने आपको ठगा हुआ महसूस करूँगा।

नैतिक-अनैतिक तरीकों से उपार्जित धन व जीवन की अन्य उपलब्धियाँ तो जहाँ की तहाँ रह जावेंगी व तद्जनित कर्मबन्धों की श्रृंखला अनन्त काल तक मुझे जकड़े रहेगी। क्या यह अपने स्वयं के साथ स्वयं का छलावा नहीं है?

यदि हम सचमुच चाहते हैं कि हमें अपने इस जीवन में अपनी कई पीढ़ियों का इन्तजाम करना है तो हमें अपनी आत्मा की आगामी पीढ़ियों का इन्तजाम करना होगा। हमें इन्तजाम करना होगा कि अनादिकाल से भवभ्रमण कर रहा यह आत्मा अब शीघ्र ही इस भव-भ्रमण से मुक्त हो। पर मैंने यह क्या किया ? जो मनुष्य जीवन भव का अभाव करने का साधन बन सकता था; वह मनुष्य जीवन भव-भवान्तरों तक संसार में ही बने रहने का इन्तजाम करने में ही बिता दिया।

ऐसा नहीं है कि आज से पहले मैं आत्मा और पुद्गल के स्वरूप को नहीं जानता था या कि आत्मा व शरीर के सर्वथा अन्यत्व को नहीं पहिचानता था। मैं बड़ी अच्छी तरह जानता था कि यह आत्मा भिन्न है व शरीर भिन्न।

यह आत्मा मैं हूँ व शरीर है अन्य और मनुष्य जीवन तो आत्मा और शरीर की एक असमानजातीय पर्याय है। पर मेरा यह ज्ञान चर्चा-वार्ता के धरातल तक ही सीमित रहा, मैं इस ज्ञान को आत्मसात नहीं कर सका और यही कारण रहा कि जीवन भर मैं अपनी आजीविका के इन्तजाम में तो लगा रहा, इस मानवजीवन के इन्तजाम में तो लगा रहा, और इससे भी आगे बढ़कर इस शरीर की आगामी पीढ़ियों के इन्तजाम में भी डूबा रहा; पर **मैं इस भगवान आत्मा के आने वाले कल की हमेशा ही अनदेखी करता रहा।**

यदि मैं अपने अन्तर को टटोलता हूँ तो पाता हूँ कि सचमुच जैसा भरोसा मुझे अपनी इस क्षणिक असमानजातीय पर्याय का है, वैसा भरोसा त्रैकालिक भगवान आत्मा का है ही नहीं। हालांकि इस मनुष्य जीवन का कोई भरोसा नहीं है, अगले दिन की तो बात ही क्या, अगले पल का भी भरोसा नहीं है, यह एक अनुभवसिद्ध तथ्य है; तथापि मैं इसके बारे में कितना आश्वस्त हूँ व निःशंक होकर पंचवर्षीय व पच्चीस वर्षीय योजनायें बनाता रहता हूँ, पर आत्मा की अनादि-अनंतता के बारे में जानने के बावजूद मुझे इसके अमरत्व का भरोसा नहीं होता।

कैसी विडंबना है कि जो जीवन इतना अनिश्चित है; उसके बारे में मैं कितना आश्वस्त हूँ व जो मृत्यु इतनी निश्चित है; उसकी मुझे कोई परवाह ही नहीं।

हमारी दृष्टि इतनी स्थूल है कि आत्मा की अनादि-अनंतता हमारी दृष्टि में ही नहीं आती। हमारी परिकल्पना का दायरा भी इतना संकीर्ण है कि आत्मा की अनादि-अनंतता उसकी परिधि में ही नहीं समाती। हालांकि, चूँकि शास्त्रों में लिखा है व ज्ञानीजनों के मुखारबिन्द से सुना है; इसलिए जिस सीमा तक यह 'अनादि-अनंतता' का विचार हमारे आज के किसी क्षुद्र से क्षुद्र स्वार्थ की सिद्धि में आड़े नहीं आता, हम उस पर भरोसा बनाये रखते हैं व यदि आज की जीवन शैली में सब जिम्मेदारियाँ निबाहने के

बाद यदि कुछ थोड़ा-सा, उपेक्षित-सा खाली समय बचा रहा तो अगले भव को ध्यान में रखते हुए धर्म के नाम पर भी कुछ क्रियाकाण्ड कर लेते हैं, पर सचमुच हम आत्मा के भविष्य के बारे में बिल्कुल भी गम्भीर नहीं होते, जबकि वर्तमान जीवन में तनिक भी प्रतिकूलता हमें विचलित कर देती है व उसके इलाज के लिए हम कुछ भी करने को तत्पर रहते हैं। किसी से पूछने व प्रमाण मांगने की आवश्यकता ही क्या है ? हमारी यही वृत्ति दर्शाती है कि हमें आत्मा की अजर-अमरता का भरोसा नहीं है। न तो हमें अपनी (आत्मा की) अनादि-अनन्तता का भरोसा है और न ही पुण्य-पाप का।

हमें इस बात का पक्का भरोसा है कि मेरे बाद मेरे पुत्र-पौत्रादिक भी रहेंगे व धन-धान्यादिक भी और इसलिए हम अपने पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रादिक के लिए धन सम्पत्ति को जुटाने में अपना जीवन खपा देते हैं, नीति-अनीति की परवाह न करते हुए और पुण्य-पाप से बेखबर रहकर भी।

हालांकि अपनी संतति को धन-दौलत दे देना भी हमारी चाहत नहीं, हमारी मजबूरी है; क्योंकि हम उसे अपने साथ ले जा नहीं सकते हैं। यदि ले जा सकते तो जरूर ले ही जाते, कुछ भी न छोड़ जाते।

यूँ कहने मात्र से शायद हम यह तथ्य स्वीकार न करें, पर हमारी प्रवृत्ति उक्त तथ्य की स्वयं साक्षी है। हम जबतक जीवित रहते हैं, तबतक अपनी समस्त सम्पत्ति व व्यवसाय पर स्वयं काबिज रहना चाहते हैं व मरने के बाद के लिए वसीयत बनाते हैं। यदि सचमुच हम उनके लिए ही सबकुछ करते तो क्या स्वेच्छा से अपने जीवनकाल में ही सबकुछ उन्हें न सौंप देते ?

धन-दौलत तो हमारे साथ नहीं जाती, पर पुण्य-पाप जाते हैं; पर न तो हमें मृत्यु के बाद अपने अस्तित्व का भरोसा है और न ही पुण्य-पाप का ही। यदि होता तो हम वर्तमान की लाभ-हानि का विचार नहीं करते व पुण्य-पापादिक के बन्ध का विचार करके वर्तमान क्रियाकलाप करते और इसप्रकार हमारी जीवन प्रणाली वर्तमान जीवन प्रणाली से बिल्कुल भिन्न

होती; बिल्कुल विपरीत, निश्छल, निष्कपट, पाप रहित पवित्र, शुद्ध एवं सात्त्विक।

कभी-कभी तो हम अपने अविचारीपने की समस्त सीमायें लांघ जाते हैं। जगत में ऐसे भी अनेकों लोग हैं, जिनके पास कहने को भी कोई अपने नहीं हैं, जिनके पुत्र-पौत्रादिक नहीं हैं; फिर भी वे जीवनभर प्रपंच में ही पड़े रहते हैं। उनसे कोई पूछे कि यह सब किसलिए ? तो सम्भवतः जवाब मिले – समाज के लिए, परोपकार के लिए; पर क्या यह अपने आपसे छलावा नहीं है ? क्या सचमुच आप यह सब समाजसेवा के लिए कर रहे हैं? यदि ऐसा है तो अपने जीवनकाल में स्वयं क्यों नहीं करते समाजसेवा? मरने के बाद चैरिटेबल ट्रस्ट बना जाना चाहते हैं। अरे ! जीतेजी तो स्वयं के उपभोग पर भी व्यय नहीं कर पाते हैं, समाजसेवा की तो बात ही क्या? पर मरने पर तो मजबूरी है न, साथ ले जा नहीं सकते और पुण्य-पाप का भरोसा नहीं।

इसका मतलब स्पष्ट है कि बात सिर्फ यही नहीं है कि आत्मा की अमरता का तो पता नहीं और पुत्रादिक प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं; इसलिए हम आत्मा की चिन्ता छोड़कर पुत्रादिक पर मर मिटते हैं; बल्कि यथार्थ तो यह है कि पुत्रादिक हों या न हों; पर आत्मा की तो हमें परवाह ही नहीं। मैं नहीं जानता अपने इस अविचारीपने को क्या नाम दिया जावे ?

हमारी आज की जीवन शैली में इहभव की सर्वोपरि प्राथमिकता है व आगामी भव अत्यन्त उपेक्षित है; यदि आत्मा की अनादि-अनंतता का भाव दृढ़ हो जावे तो यह जीवन अत्यन्त उपेक्षित क्रम पर आ जावेगा व आत्मा के भविष्य का इन्तजाम सर्वोपरि प्राथमिकता पर आ जावेगा और तब स्वयमेव ही जीवन में साधुता आ जावेगी।

इसप्रकार के ये युक्तिसंगत विचार मैंने जीवन में ज्ञानियों के श्रीमुख से कई बार सुने हैं। अधिक विचार करने का अवसर तो न पा सका, पर प्रथमदृष्टया इनमें कोई विरोधाभास भी दिखाई नहीं पड़ा; फिर भी मेरी वृत्ति

नहीं बदली। तब तो युवावस्था थी व गारंटी न सही, मात्र सम्भावना ही सही, पर आगे तो सारा जीवन पड़ा था और उसके लिए मुझे बहुत कुछ करना था, उस दिन की आर्थिक परिस्थितियों पर विजय पाकर आगामी दिनों की भी पुख्ता व्यवस्था करनी थी, पर आज क्या है ?

आज तो मैं इस जीवन की भी समस्त जिम्मेदारियों से बलात् मुक्त कर दिया गया हूँ और अब स्वयं मेरी अपनी ही निगाह में अपने इस वर्तमान जीवन का कोई भी भविष्य नहीं है, **यदि भविष्य कुछ हो सकता है तो मात्र पुनर्जन्म में ही सम्भव है, वह आत्मा की अनादि-अनंतता के स्वरूप में ही छुपा है** और अब भी अगर मैं अपने भविष्य के प्रति उतना ही सतर्क हूँ तो मुझे आत्मा की अजर-अमरता का निःशंक निर्धारण कर आत्मकल्याण की ओर अग्रसर होना चाहिए, पर मैं स्वयं ही नहीं जानता कि आज की इस गफलत को क्या नाम दूँ, बुरी होनहार के अतिरिक्त और क्या हो सकता है, जो मुझे उक्त मार्ग पर चलने से रोकता है।

सारा दिन तो धूल-माटी में अटका रहता हूँ, कहीं किसी फूल-पत्ती में प्रकृति का सच्चा सौन्दर्य नजर आता है व उसकी सम्भाल में लग जाता हूँ, उसकी एक-एक शाख को सम्भालता हूँ, एक-एक पत्ती को सहेजता हूँ और कभी घर के साधारण से सामान पर चढ़ी धूल की महीन-सी पर्त भी मुझे विचलित कर देती है और मानो मैं समर्पित ही हो जाना चाहता हूँ, **अपने घर में से धूल के उन्मूलन के लिए; परन्तु परमशुद्ध, अबंध-स्वभावी आत्मा पर अनादि से चढ़ रही कर्मरज का मुझे विचार ही नहीं आता, वह कभी मेरी चिन्ता व चिन्तन का विषय ही नहीं बनती।**

जिसप्रकार हम अवकाश के दिनों में परिवार सहित घूमने के लिए बम्बई जाते हैं, तब जाने से पूर्व ही इन्तजाम कर लेते हैं कि बम्बई में जाकर कहाँ ठहरेंगे, क्या खायेंगे, कहाँ-कहाँ घूमेंगे, किस-किससे मिलेंगे इत्यादि व इन सब कामों के लिए आवश्यक सामग्री का इन्तजाम करके चलते हैं। महीनों पूर्व ट्रेन का आरक्षण करवाते हैं व इच्छित तारीख को

आरक्षण न मिलने पर अपना कार्यक्रम कुछ दिन आगे-पीछे भी कर लेते हैं। फिर सुनिश्चित समय पर तैयारियों के साथ बम्बई के लिए प्रस्थान करते हैं व वहाँ पहुँचने पर भी सर्वप्रथम जीवन-जरूरत की सभी आवश्यक सामग्री के इन्तजाम में जुट जाते हैं, जैसे खाना-पीना, नहाना-धोना, खेलना-कूदना इत्यादि।

सुविधापूर्वक निराकुल रहकर सभी आवश्यक क्रियाओं से निवृत्त होकर घूमने-फिरने निकलते हैं, एक-एक स्थान पर जाना चाहते हैं व हर क्षण हर पल का भरपूर आनंद लेना चाहते हैं; क्योंकि हम आखिर निकले ही प्लेजर ट्रिप पर हैं, आनन्द मनाने की यात्रा पर।

पर यदि हमें अचानक पता लगे कि मुझे केन्सर हो गया है व इलाज के लिए बम्बई जाना होगा, तब भी क्या हम यही सब कुछ करेंगे, तब भी रिजर्वेशन न मिलने पर कार्यक्रम कुछ दिनों के लिए टाल देंगे ?

नहीं ! यात्रा में चाहे कुछ भी क्यों न भुगतना पड़े, कितना ही कष्ट क्यों न उठाना पड़े, तुरंत ही बम्बई जाने का उपक्रम करेंगे। घर पर चाहे कितने ही महत्त्वपूर्ण कार्य लम्बित पड़े हों, पर उनके पूरे होने का इन्तजार नहीं करेंगे ? यह विचार भी नहीं करेंगे कि साथ कौन जावेगा ? भाई के चले बिना तो काम चल नहीं सकता और वह तो कुछ दिन अत्यन्त व्यस्त है; क्योंकि सीजन चल रहा है या पत्नी तो अभी निकल ही नहीं सकती; क्योंकि बच्चे की एस.एस.सी. की परीक्षायें हैं।

ये नहीं तो वह सही, वह नहीं तो कोई और सही; यदि कोई भी नहीं तों हम ही सही, पर हम तुरन्त ही बम्बई के लिए चल पड़ते हैं। निकलने से पहले यह भी नहीं सोचते कि ठहरेंगे कहाँ ?

जो होगा सो देखा जावेगा।

बम्बई पहुँच जाने पर भी ठहरने का इन्तजाम करने से पहले, स्टेशन से ही डॉक्टर को फोन करके अपाइन्टमेंट ले लेना चाहते हैं कि कहीं देर न हो जावे। यदि डॉक्टर तुरंत ही बुला लेवे तो हम यह नहीं कहते कि अभी

तो कैसे आ सकता हूँ, अभी तो ठहरने का इन्तजाम करना है, खाने-पीने का इन्तजाम करना है और फिर मैं कोई अकेला थोड़े ही हूँ, अन्य लोग भी तो मेरे साथ आये हैं, वे भी सिर्फ मेरे लिए ही, अपने-अपने महत्त्वपूर्ण काम छोड़कर। उन सबकी जिम्मेदारी भी तो मेरे ऊपर ही है; अतः उन सबकी, सब आवश्यकताओं का इन्तजाम करके फिर आऊँगा समय मिलने पर।

बल्कि तुरन्त सभी को स्टेशन पर ही छोड़कर हम डॉक्टर के पास पहुँचते हैं और यदि डॉक्टर कहे तो तुरंत ही अस्पताल में भर्ती भी हो जाते हैं, सभी साथ आनेवालों को उनके हाल पर छोड़कर; और तो और स्वयं अपने आपको को, उनकी जिम्मेदारी पर छोड़कर। तब हमें विचार भी नहीं आता कि मैं भर्ती हो जाऊँगा तो उन सबका क्या होगा ? अब इतनी दूर आये हैं तो बम्बई भी घुमानी ही होगी, नहीं तो वे क्या सोचेंगे ?

हम स्वयं तो किसी का विचार करते ही नहीं, साथ आये अन्य लोग भी उसका बुरा नहीं मानते; क्योंकि वे सभी जानते हैं कि वे बम्बई क्यों आये हैं ? सभी का एकमात्र लक्ष्य है मरीज के मर्ज का इलाज, वह भी हर कीमत पर। ठहरने का ठीक से पर्याप्त इन्तजाम हो या न हो, खाना समय पर मिले या न मिले, कपड़े धुलें या न धुलें, उन पर प्रेस हो या न हो; पर इलाज होना चाहिए, उसमें कोई कमी नहीं होनी चाहिए।

गाँव में सर्वसुविधासम्पन्न घर खाली पड़ा रहता है, पर घर का मालिक अत्यन्त विपन्नता में बम्बई में पड़ा रहता है; पर इस विपन्नता से घबराकर स्वप्न में भी वह सुविधा-सम्पन्न घर पर लौटने का विचार नहीं करता; क्योंकि गाँव की आज की वह सुविधा उसे मौत के मार्ग पर ले जा सकती है व बम्बई की यह असुविधा जीवन का मार्ग प्रशस्त करती है।

न तो मरीज स्वयं और न ही उसके सहचारी, कोई नहीं सोचता कि मैं बम्बई में रहने वाले अपने उस पुराने मित्र या संबंधी से तो मिला ही नहीं, जाने वह क्या सोचेगा, कितना बुरा मानेगा ? नहीं ! कुछ भी सोचे, कुछ भी माने, चाहे तो यहाँ मिलने आ जावें, न चाहे तो न आवें। आ भी जावे

तो कौन उनसे चाय-पानी की पूँछे? हो न हो आँख खोलकर उनकी ओर देखने का भी विकल्प आवे या न आवे ?

क्योंकि हमारी यह बम्बई यात्रा मौज-शौक के लिए नहीं, जगत का व्यवहार निभाने के लिए नहीं, वरन् जीवन रक्षा के लिए है। वही हमारा एक मात्र प्रयोजन है, अन्य कुछ भी नहीं; जगत की व जीवन की अन्य सभी क्रियायें, जब व जैसी स्वयमेव संचालित हों तो हों, न हों तो न हों; हम उनसे सदा निरपेक्ष ही रहते हैं।

यदि हम बम्बई आकर भी पहले अपने इलाज पर तो ध्यान न दें व इन समस्त व्यवहारों व व्यावहारिकताओं में ही उलझ जायें तो क्या होगा ?

सब व्यवहार भी यहीं छूट जावेगा व देह भी छूट जावेगी; सब कुछ छूट जावेगा, नष्ट हो जावेगा। और यदि व्यवहार में न पड़कर अपना इलाज करलें तो फिर सारा जीवन तो पड़ा है व्यवहार निभाने के लिए, घूमने-फिरने के लिए व सुविधाओं का उपभोग करने के लिए।

इसलिए मरीज के लिए तो मात्र स्वयं ही स्वयं के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण व्यक्ति है, डॉक्टर ही उसका आराध्य है व अस्पताल ही महानतम तीर्थ और सम्पूर्ण स्वस्थ होना ही उसका एक मात्र लक्ष्य है; बाकी जगत का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य उसके लिए कुछ भी नहीं व बम्बई नगर का सारा मनोहर-सौन्दर्य उसके लिए कुछ भी नहीं।

अनादिकाल से भवभ्रमण के आत्मघाती महारोग से पीड़ित यह आत्मा संयोग से यह मानव पर्याय पा गया है, जिसमें इस दुष्चक्र से छूटने का पुरुषार्थ सम्भव है। यही नहीं, हम अपने इस महारोग को पहिचान भी गए हैं व दूर करने का उपाय भी उपलब्ध है, तब भी यदि हम मात्र अपने इसी जीवन की सुविधाओं का इन्तजाम करने में ही व्यस्त रहें, तत्संबंधी व्यवहारों को निभाने में ही लगे रहें; तब क्या हमारी स्थिति वैसी ही नहीं होगी, जैसी कि कैंसर का इलाज करवाने के लिए बम्बई आया मरीज, सिर्फ रहने,

खाने और व्यवहार निभाने के इन्तजामों में ही व्यस्त हो जावे व डॉक्टर से सम्पर्क करने का उसे अवकाश ही न मिले।

जिसने अपने रोग को पहिचाना है व उस रोग के परिणामों को जाना है; उसकी इसप्रकार की प्रवृत्ति सम्भव ही नहीं है। पर यदि ऐसा अवसर पाकर भी यदि हम इस भवभ्रमण से छूटने मात्र के उपाय में इस जीवन को समर्पित नहीं कर देते तो इसका मतलब है कि भवभ्रमण के दुःखों की भयानकता से हम परिचित ही नहीं हैं, हमें भवों के दुःखों की न तो स्मृति ही है और न ही परिकल्पना व तत्संबंधी आचार्यों व मनीषियों के वचनों का भी हमें भरोसा नहीं है।

प्राणघातक केन्सर से प्राणों की रक्षा के लिए समर्पित हो गया मरीज अब बनाव श्रृंगारादिक में रत नहीं रहता। शृंगारादिक में रत रहने की तो बात ही क्या, उस ओर उसका ध्यान भी नहीं जाता। श्रृंगारादिक तो दूर वस्त्रादिक से भी अलिप्त हो जाता है। बाजार जाकर नवीनतम चलन के वस्त्रों के चुनाव की तो बात क्या; पर स्वयं के पास उपलब्ध वस्त्रों को भी ठीकप्रकार से पहिनने की रुचि नहीं रहती, सामान्यजनों को प्रथम निगाह में ऊंटपटांग से लगने वाले ढीले-ढाले बेडौल से वस्त्र बस यूं ही शरीर पर डाल भर लेता है; डाल भी क्या लेता है, यदि साथी-सहचर बलात् ही न डाल दें तो शायद............

वस्त्र तो वस्त्र भोजनादिक की भी रुचि कहाँ रहती है ? रुचि न रहना एक बात है व अरुचि हो जाना दूसरी। उसे तो भोजन ग्रहण के प्रति अरुचि हो जाती है। स्वयं भोजन ग्रहण का तो भाव ही नहीं आता है, अन्य सामान्य लोगों के मनाने पर भी भोजन स्वीकार नहीं करता है। अत्यन्त निकट के प्रियजन जब भांति-भांति समझाते हैं, मान-मनुहार करते हैं तो अनन्त उपेक्षा पूर्ण ढंग से अपनी शर्तों पर थोड़ा-बहुत ग्रहण कर लेता है, उसमें भी यदि भोजन करते हुए बीच में कुछ भी व्यवधान आ जाये तो फिर अलिप्त हो जाता है।

उसका ध्यान तो बस अपने जीवन की रक्षा के उपायों पर ही केन्द्रित बना रहता है, यदि कुछ काल के लिए उस ध्यान से च्युत भी हो जाता है तो फिर तुरन्त ही उपयोग वहाँ पहुँच जाता है।

इस बीच यदि कोई मित्र, परिजन, मिलने आ पहुँचें तो यदि उधर लक्ष्य जावे तो थोड़ी बात कर ले, यदि न जावे तो न करे; वह व्यावहारिकता से परे हो जाता है, जगत के व्यवहार की उसे चिन्ता नहीं रहती।

यदि शरीर की रक्षा के लिए सम्पूर्णत: समर्पित व्यक्ति शरीर की सम्भाल की ओर से इतना निस्पृह और निरीह हो जाता है तो आत्मकल्याण की तीव्र भावना वाले आत्मज्ञानी, आत्मार्थी की दशा (मुनिदशा) के बारे में संदेह कैसा ? क्या आश्चर्य है कि उसके तन के वस्त्र छूट ही जायें, उसे स्नान व दंतधोवन का विकल्प भी न आवे, निद्रा नाममात्र रह जावे, सामान्य रूप से तो भोजन का विकल्प ही न आवे व कदाचित् विकल्प आने पर श्रावक द्वारा नवधाभक्तिपूर्वक पड़गाहने पर व प्रतिज्ञाबद्धरूप से शुद्धि की घोषणा करने पर अत्यन्त अरुचिपूर्वक थोड़ा आहारग्रहण हो, उसमें भी मामूली-सी घटना अन्तराय का निमित्त बन जावे। या तो उपयोग आत्मस्थ ही बना रहे या यदि कुछ पलों के लिए आत्मा से च्युत भी हो तो खटक बनी ही रहे। पूजा करने वालों को आशीर्वाद देने का भाव भी आवे तो आवे या न भी आवे।

ऐसी यह धन्य मुनिदशा संसार की नि:सारता की स्वीकृति की पराकाष्ठा है।

यह धन्य मुनिदशा यदि इस जीवन में स्थापित हो जाती तो यह जीवन सार्थक हो जाता, पर अभी जीवन में आने की तो बात ही कहाँ, अभी तो यह मुनिदशा मेरी कल्पना में भी नहीं आती है ? इस जीव की ऐसी दशा भी हो सकती है, इतनी वीतरागी, इतनी अलिप्त, इतनी निरीह, इतनी निष्काम? यह बात मेरी कल्पना को भी स्वीकार नहीं हो पाती है, आधे मन से गर्दन तो हिलती रहती है; पर एक शंका व हिचक बनी ही रहती है।

पर यह हिचक व झिझक कबतक चलेगी ? आखिर कबतक ?

न जाने कितने लोक लुभावन बहाने बनाकर मैं जीवन भर यह अन्तिम निर्णय लेने से बचता रहा; इसे एक और कल तक के लिए टालता रहा। पहले तो फिर भी आशा बनी ही रहती थी, कि एक और कल मेरे जीवन में आवेगा, एक सुहानी सुबह आवेगी ताजगी व स्फूर्ति से भरपूर। एक नया सूरज उगेगा। पर अब आज जैसे-जैसे एक-एक दिन व्यतीत होता जा रहा है, यह सम्भावना ही प्रबल होती जा रही है कि हो न हो यह मेरे जीवन का अन्तिम दिन ही हो। हर दिन जब मैं ढलता हुआ सूरज देखता हूँ तो वितृष्णा से भर उठता हूँ, उसमें झलकता हुआ अपना बिम्ब दिखाई देता है, प्रतिपल क्षीण होता उसका तेज, अब मुझे स्वीकार नहीं होता; क्योंकि मैं भी तो प्रतिपल इसीतरह ढलता जा रहा हूँ। उस तेजहीन ढलते हुए सूरज को भी भरपूर निरख लेने की मेरी तृष्णा अब अत्यन्त बलवती हो गई है, हो न हो फिर कभी मेरे इस जीवन में तेजस्वी सूरज उगे या न उगे।

जब मैं युवा था, तब तो एक बड़ी दुविधा मेरा रास्ता रोक लेती थी। एक ओर मेरा यह जीवन, घर-परिवार व उसकी ज्वलंत समस्यायें, जो स्पष्ट व प्रत्यक्ष थीं और दूसरी ओर अदृश्य आत्मा और उसका तथाकथित काल्पनिक भावी अनन्तकाल। तब मैं किसे सम्भालता व किसकी उपेक्षा करता। यदि मैं आत्मा को महत्त्व देने का मन बनाता, तो मेरा ही अन्तर्मन पुकार उठता कि काल्पनिक भविष्य के लिए अपने साक्षात् वर्तमान को दाव पर लगा देना चाहते हो तुम। और मैं तत्क्षण ही रुक जाता, भला मुझसे बेहतर यह कौन जान सकता है कि आत्मा के प्रति, स्वयं अपने प्रति मेरा यह सोच व व्यवहार मेरे मायाचार की पराकाष्ठा हैं। मैं स्वयं स्वयं पर ही प्रश्नचिह्न लगाता रहा, स्वयं के होने से, स्वयं के भविष्य से ही इन्कार करता रहा।

पर मेरी यह दुविधा तो बीते कल की बात है, तब तो मेरी वर्तमान मनुष्य पर्याय का 'विस्तृत वर्तमान' भी था व 'सपनों का भविष्य' भी और उसके लिए तो मैं क्या-क्या कर सकता था, क्या-क्या करना चाहिए था

और क्या-क्या कर पाया, क्या न कर पाया; उसके समस्त परिणाम तो सामने हैं, पर आज की तो बात ही कुछ और है।

आज 75 वर्ष की इस उम्र में न तो मैं वर्तमान में ही प्रासंगिक रह गया हूँ और न ही मेरा कोई भविष्य है। अब यदि करने को कुछ रह जाता है तो वह है मात्र इस अनादि-अनंत आत्मा के भविष्य का इन्तजाम; पर यह कोई साधारण काम तो है नहीं। यह तो अत्यन्त पुरुषार्थ और सावधानी का कार्य है। सच्चे मार्ग की समझ, सच्चे गुरु की खोज, निरन्तर तत्त्व अभ्यास, स्वाध्याय व सत्संग। इन सभी गतिविधियों के लिए तो भरपूर उर्जा की आवश्यकता है; अब आज मैं यह सब करना भी चाहूँ तो कैसे कर पाऊँगा। आज तो मैं अपनी दैनिक जीवन की आवश्यक क्रियायें भी स्वतंत्र पने कर पाने में सक्षम नहीं हूँ, तब आत्मा के अनन्तकाल के परिभ्रमण को नाश करने का पुरुषार्थ कैसे कर पाऊँगा ?

यही बात यदि दश-बीस वर्ष पहले समझ में आ जाती, यदि मैं तब समझ पाता कि इस मानव पर्याय का 10-20 वर्ष का भविष्य कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण दौर नहीं है, जिसकी सम्भाल में यह जीवन झोंक दिया जाय। इस जीवन का प्रत्येक पल तो अपने भावी अनन्तकाल का इन्तजाम करने के लिए है, तो क्या आज मैं उस मुकाम पर खड़ा नहीं होता; जहाँ से मुक्ति का मार्ग, मुझसे अत्यन्त समीप ही होता।

सारा जीवन तो गोरखधंधे में बीत ही गया व वर्तमान बीता जा रहा है। उसके लेखे-जोखे में, अवसाद में; मेरा भविष्य भी क्या होगा ? यदि अब भी सब कुछ ऐसा ही चलता रहा तो क्या मेरा अनन्त भविष्य भी, अनन्त अन्धकार में खो नहीं जावेगा ?

तब मैं क्या करूँ ? अबतक विगत के लिए बिलखा, क्या अब आगत के लिए क्रन्दन करूँ ? क्या क्रन्दन ही मेरी नियति है ? नहीं ! नहीं!! कदापि नहीं !!!

आज जब मैंने आत्मा की अथाह अनन्तता को स्वीकार कर ही लिया

है; तब 100-50 वर्षों के लिए अफसोस कैसा ? सिर्फ यही 100-50 वर्ष तो बर्बाद नहीं हुए हैं, अनादिकाल से आज़ तक सभी कुछ तो इसीतरह बीता है तो क्या अनन्तकाल तक रोता ही रहूँगा ?

जिसतरह अनादि से कल तक 'अनन्तकाल' बीता था, वैसे ही एक और 'आज' बीत गया; उस अनन्तकाल के सामने इस एक दिन या 100-50 वर्षों की क्या अहमियत है कि अब उसके चिन्तन में मैं अपने आगामी अनन्तकाल को और अन्धकारमय बना डालूँ। और फिर लुट क्या गया है? यह मानवदेह भले ही कुछ दिनों की सही, पर मेरा तो अनन्तकाल पड़ा है न, आत्मा तो अनन्तकाल तक रहेगा न; और अनादि के अन्धकार को मिटाने के लिए अनन्तकाल की आवश्यकता ही कहाँ है ? अन्तर्मुहूर्त में ज्ञान सूर्य उदित हो जावे तो अनादि का अन्धकार भाग जाता है, विलीन हो जाता है।

जिसकी अन्तर्मुहूर्त की आराधना, अनादि की विराधना को निष्फल कर देती है; ऐसा एक, अखण्ड-अनन्त, अनादि-अनन्त भगवान आत्मा मैं स्वयं ही तो हूँ और यूँ तो अनन्तकाल पड़ा है, उसकी उपासना के लिए; पर इस वर्तमान मनुष्य पर्याय में भी तो ऐसे अनगिनत अन्तर्मुहूर्त अभी शेष हैं, जो अनादि की धारा को मोड़ देने में समर्थ हैं; तब क्रन्दन कैसा, पश्चाताप को अवकाश ही कहाँ है ?

"It is never too late" अभी भी देर नहीं हुई है।

अनादि-अनन्त इस आत्मा के जीवन में देर तो कभी होती ही नहीं। जब जाग जाओ, तभी है सबेरा।

अब तो कल से ही मुझे जुट जाना होगा, इस मंगल अभियान में संसार को सुधारने के नहीं, संसार को काटने के अभियान में।

पर कल से क्यों ? यदि हम हमेशा ही कल तक का ही इन्तजार करते रहे तो कौन जाने इस एक समय के वर्तमान व उस स्वर्णिम कल के बीच कितना फासला बना रहे।

मुझे तो जुट जाना है, आज से ही। सिर्फ आज से ही नहीं; अभी से, अभी से।

●●●

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल चैरिटेबल ट्रस्ट : एक परिचय

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल चैरिटेबल ट्रस्ट की स्थापना 25 मई सन् 1995 को देवलाली (महा.) में डॉ. भारिल्ल के 61वें जन्मदिवस पर की गई थी। उनकी षष्टिपूर्ति के अवसर पर जब पू. कानजी स्वामी स्मारक ट्रस्ट, देवलाली द्वारा उन्हें 60 हजार की धनराशि भेंट की गई थी, तब उनके परिवार ने 2 लाख 40 हजार उसमें और मिलाकर तीन लाख की धनराशि से यह ट्रस्ट स्थापित किया था। साथ ही यह घोषणा की थी कि इस ट्रस्ट में उनके परिवार के सिवा किसी अन्य की धनराशि नहीं ली जायेगी। चूँकि इस ट्रस्ट का गठन एक विद्वान के सम्मान की प्रदत्त राशि से हुआ था; अतः यह संकल्प किया गया कि सर्वप्रथम इस ट्रस्ट के माध्यम से विद्वानों का सम्मान ही प्रारंभ किया जावे।

इस शृंखला में अबतक डॉ. उत्तमचन्दजी सिवनी, पण्डित अभयकुमारजी शास्त्री जबलपुर, ब्र. अभिनन्दकुमारजी शास्त्री खनियांधाना, डॉ. महावीरकुमारजी जैन उदयपुर तथा अशोककुमारजी लुहाड़िया अलीगढ़ को सम्मानित किया जा चुका है।

इस सम्मान में दस हजार रुपए की नकद राशि, शाल, नारियल, माल्यार्पण एवं प्रशस्ति-पत्र प्रदान कर सम्मानित किया जाता है।

इसके अतिरिक्त श्री अखिल भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत्परिषद् की ओर से गुरु गोपालदास बरैया एवं गणेश वर्णी पुरस्कार दिए जाते हैं। इन पुरस्कारों में पाँच हजार रुपए, शाल, नारियल, माल्यार्पण एवं पुरस्कार प्रदान किये जाते हैं। इन दोनों पुरस्कारों का व्यय भी डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल चैरिटेबल ट्रस्ट द्वारा ही वहन किया जाता है।

यह पुरस्कार अभी तक डॉ. वीरसागर जैन, अध्यक्ष : जैनदर्शन विभाग, लालबहादुर शास्त्री विश्वविद्यालय, दिल्ली एवं डॉ. पुषराज जैन, दिल्ली को दिया गया है।

डॉ. भारिल्ल की जन्मभूमि बरौदा स्वामी के जिनमंदिर में एक वीतराग-विज्ञान स्वाध्याय भवन का निर्माण भी इसी ट्रस्ट ने करवाया है, जिसमें लगभग 2 लाख रुपये की राशि व्यय हुई है।

अब इस ट्रस्ट के माध्यम से साहित्य प्रकाशन का कार्य भी प्रारंभ किया गया है। प्रथम पुष्प के रूप में अरुणकुमार जैन द्वारा लिखित राजस्थान विश्वविद्यालय से स्वीकृत लघु शोध प्रबन्ध 'डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल और उनका कथा साहित्य' के प्रकाशन के उपरान्त यह द्वितीय पुष्प 'अन्तर्द्वन्द' आपके हाथों में है।

– पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

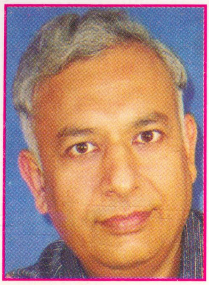

परमात्मप्रकाश भारिल्ल का जन्म अशोकनगर (म.प्र.) में 30 सितम्बर सन् 1959 में हुआ। आप विख्यात लेखक, चिन्तक व प्रवचनकार डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के ज्येष्ठ पुत्र हैं।

राजस्थान विश्वविद्यालय से आपने बीएस.सी. की शिक्षा ग्रहण की है। यूं तो आप वर्तमान में मुम्बई में हीरों के आयात-निर्यात के कारोबार में संलग्न हैं तथापि अल्पवय से ही सामाजिक-धार्मिक गतिविधियों से जुड़े रहे हैं। व्यवसाय हेतु प्रतिवर्ष अनेकों बार विदेश यात्राओं के अतिरिक्त समय-समय पर प्रवचनार्थ देश-विदेश की यात्रायें करते रहे हैं।

आप अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन के राष्ट्रीय महामंत्री हैं। पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर एवं श्री महावीर स्वामी कुन्दकुन्द कहान दि. जैन मुमुक्षु मण्डल बोरीवली मुम्बई के ट्रस्टी तथा डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल चैरिटेबल ट्रस्ट के महामंत्री हैं।

प्रस्तुत कृति लेखक की प्रथम प्रकाशित रचना है।

अभिरुचियाँ : चिन्तन, मनन, लेखन, पठन-पाठन व काव्य रचना।

आगामी कृतियाँ : मृत्युमहोत्सव, जीवन का वैभव (निबन्ध), समकित।

सम्पर्क :
304, सनफ्लेश, ऋषि काम्पलेक्स, हेलीक्रोस रोड़,
आई. सी. कॉलोनी, वोरीवली (पश्चिम), मुम्बई-400103
फोन : 28931983, 28941267
मोबाईल : 9870016988 फैक्स :28946429

कार्यालय : 11, पापूलर आर्केड, टाटा रोड़ नं. 1,
ऑपेरा हाऊस, मुम्बई - 400004
फोन : 23696084, 23669613, 23666247
E mail : anekant@bsnl.com